आज की शिक्षा कल के सवाल

शिवरतन थानवी

धरती प्रकाशन

दो शब्द

जो हम आज सोचते हैं या करते हैं उसका प्रभाव कल होगा। शिक्षा की प्रक्रिया को हम जो रूप देंगे उसका लाभ कल मिलेगा। इसलिए अतीत के अनुभव और आज के अनुभव का विश्लेषण-विवेचन जब भी हम करें तब हमें हमारी दृष्टि भविष्य पर रखनी चाहिए। भविष्य में जो सवाल उठने वाले हैं उनको आज ही पहचानना चाहिए। आज के बच्चे-बच्चियां कल के कर्णधार हैं। बीते कल की कहानी उन्हें भले सुनाइए, खूब सुनाइए, किंतु यह याद रखिए कि कल का इतिहास उन्हें लिखना है, कल की दुनिया से मुकाबला उनको करना है, कल के सवालों से—कल की समस्याओं से संघर्ष उन्हें ही करना है। कल की दुनिया में वे सफल होंगे तभी आज की शिक्षा सार्थक होगी।

इसलिए हम जो आज कहते या लिखते या रचते हैं उसका लक्ष्य और आधार कल का समाज ही होना चाहिए। आज की शिक्षा को कल के सवालों की तैयारी ही करनी चाहिए। हमें देखना चाहिए कि हमारी शिक्षा प्रणाली के आयोजक, नियामक और नियंता, आज के सवालों में ही लिपटे हुए हैं या कल के सवालों को भी देख रहे हैं?

आपने अनुभव किया होगा कि ऐसा कम होता है। प्रायः सब की नजर आज पर ही रहती है। तभी डिग्री पर जोर रहता है, तभी प्रमाण-पत्र, परीक्षा और नौकरी पर जोर रहता है। ज्ञान पर कहां है? शिक्षा पर जोर कहां है? सत्य की खोज पर जोर कहां है? शिव और सुंदर का स्वरूप समझने पर जोर कहां है? स्वयं लेखक भी भूल गये हैं। कवि, लेखक और साहित्यकार भी भूल गये हैं। सच्चे शाश्वत शिक्षक तो कवि और लेखक ही होते हैं, साहित्यकार और पत्रकार ही होते हैं। हम शिक्षक हों चाहे कवि, लेखक या पत्रकार हों, कल को हम नहीं भूल सकते। आज जो हम करते हैं, उसका प्रभाव कल होगा। साहित्यकार की रचना का प्रभाव काल को लांघता है, बहुत दूर तक लांघता है। शिक्षक के शिक्षण का प्रभाव भी काल को लांघता है। जब भी दोनों ने इस तथ्य को भुलाया है, समाज को नुकसान पहुंचाया है। कालदर्शिता दोनों का पहला कर्तव्य है।

क्रम

कदम-कदम पर असफलता और अपमान
बच्चे आगे कैसे पढ़ें ?

पड़ता था। वर्तमान विद्यालय में 7-8 घन्टा रहना पड़ता है। इन 7-8 घन्टे में से जो एक घन्टा मेल का होता है उसे 10 प्रतिशत विद्यार्थी भी उपयोग में नहीं लेते होंगे। विषय पढ़ने के समय भी कक्षा से भाग जाना, आवारागर्दी करना या घर का काम करना अध्ययन में बाधक बन जाता है। फल क्या होता है? आप अपने-अपने राज्य का हाई-हायर सैकेण्ड्री या एस. एस. एल. सी. का परीक्षा परिणाम देखें। पचास प्रतिशत से नीचे ही रहता होगा। कभी थोड़ा ऊपर हो सकता है। अभी केरल में जो ताजा एस.एस.एल.सी. का परीक्षा परिणाम प्रकाशित हुआ है उसमें 5.15 लाख परीक्षार्थियों में से 61.4 प्रतिशत परीक्षार्थी अनुत्तीर्ण हुए है, अर्थात् उत्तीर्ण होने वालों का प्रतिशत 38.6 मात्र ही रहा है। राजस्थान में माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की सैकेण्डरी परीक्षा का 1982 का कला संकाय का उत्तीर्णता प्रतिशत भी मात्र 38.69 रहा था। वाणिज्य संकाय का 53.35, विज्ञान संकाय का 58.11 प्रतिशत और सभी संकायों का मिलाकर कुल 47.23 प्रतिशत रहा था। शेष सब अनुत्तीर्ण रहे। इसके पीछे आप 1958 तक भी चले जायें तो उत्तीर्ण होने वालों की प्रतिशतता 49.07 (1967) से अधिक नहीं मिलेगी। न्यूनतम प्रतिशतता 31.91 (1965) रही है। पच्चीस वर्षों में परीक्षा परिणाम यदि 31 व 49 के बीच रहा तो वह आज भी उससे बाहर गया हो, ऐसी कल्पना करने की जरूरत नहीं है। वर्ष 83 का कला संकाय का परिणाम अभी-अभी (लेख लिखते समय) आया है जो 36.25 प्रतिशत मात्र है। वाणिज्य का 44.3 प्रतिशत और विज्ञान का 54.1 प्रतिशत है—कुल 44.55 प्रतिशत मात्र। अर्थात् सैकेण्डरी स्तर पर भी 50-60 प्रतिशत विद्यार्थी प्रतिवर्ष अनुत्तीर्ण हो रहे हैं और राज्य का सदमा नियमित रूप से प्राप्त करते रहते हैं। अब ये लोग वापस स्कूल में आयें चाहे नहीं आयें, हमने तो उन्हें असफलता का तिक्त आस्वाद भेंट कर ही दिया।

असफलता का तिक्त आस्वाद हम प्राथमिक स्तर से ही भेंट करना प्रारम्भ कर देते हैं। राजस्थान के शिक्षाधिकारियों की आबू संगोष्ठी ने एक बार निर्णय किया था कि चौथी कक्षा तक किसी को अनुत्तीर्ण नहीं किया जायेगा, लेकिन अमल करने वाले अधिकारियों को यह बात कुछ ज्यादा क्रान्तिकारी लगी और उन्होंने उसमें भाष्य कर दिया, "चौथी तक अर्थात् चौथी से नीचे (तीसरी कक्षा) तक" अनुत्तीर्ण नहीं किया जायेगा। चौथी कक्षा की परीक्षा भी समाप्त होनी थी लेकिन उन्होंने उसे पूर्ववत् बरकरार रखा। आज एकाध दिशा से फिर पीछे लौटने की आवाज आने लगी है—"फेल नहीं करने, इसलिए विद्यार्थी कमजोर रह जाते हैं, अस्वस्थ इकाई बना दी है, तो उसमें भी उलझनें बढ़ गई हैं, पढ़ाई ठीक से नहीं होती है, आदि-आदि।" इसलिए विलक्षण वर्तमान प्रणाली के विनाश और क्या हो सकता है, लेकिन सौभाग्य से अस्वस्थ इकाई के विरुद्ध बड़े क्षेत्रों से भी आवाज उठी पर अभी शान्त है। तीसरी कक्षा तक किसी को भी अनुत्तीर्ण नहीं किया

... एक स्कूल छोड़ने का क्रम भी ...रहता है। स्कूल छोड़ने के कारणों में अनुत्तीर्ण होना भी एक बड़ा कारण है। बाकी और भी कई कारण हैं। जितने छात्र उतने कारण। किन्तु मोटे-मोटे कारण निम्नांकित होते हैं —

1. असफलता का तिक्त आस्वाद (दोषपूर्ण परीक्षा-प्रणाली) और तज्जनित सदमा।
2. आर्थिक कमजोरी। गरीबी। शिक्षा से ज्यादा पेट की समस्या का दबाव।
3. घर के काम में मदद करने की जरूरत। खासकर लड़कियों की।
4. माता-पिता को जीविकोपार्जन में मदद करने की जरूरत।
5. विद्यालय के कठोर नियम (उपस्थिति के, प्रमाण पत्रों के, आदि)।
6. विद्यालय का अनाकर्षक नीरस वातावरण।
7. शिक्षकों का नीरस शिक्षण और उपेक्षापूर्ण स्नेह-शून्य-व्यवहार।
8. विद्यालय की विद्यार्थी के निवास से दूरी।
9. माता पिता की अशिक्षा।
10. सामाजिक स्तरों की प्रतिकूलता। छूत-छात, अस्पृश्यता और अन्य जातिगत व साम्प्रदायिक भेद-भाव।
11. पाठ्य-क्रम का जीवन से जुड़ा न होना।
12. पाठ्य-पुस्तकों का बेशुमार बोझ।
13. बड़ी कक्षाएँ।
14. फर्जी उपस्थिति दिखाना, नामांकन ज्यादा बनाने के लिए।
15. ग्रामीण तथा पिछड़े क्षेत्रों में शादियाँ छोटी उम्र में होना।

विद्यालय चाहे सरकारी हो चाहे गैर सरकारी, चाहे हिन्दी माध्यम हो चाहे ...ी या अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम वाला हो, इनमें से कोई-न-कोई ...ा छात्र-छात्राओं को स्कूल बीच में ही छोड़ देने को बाध्य कर देता है। ...लयों के संचालक या शिक्षक अपने मन में बनाए कानूनों, नियमों या अपेक्षाओं ...गू करते समय विद्यार्थी के सुख-दुख की चिन्ता नहीं करते हैं। पिछले ...सुना था कि ईसाई मिशनरियों द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों में गृह-कार्य ...र सजा देने का कोई ऐसा सिलसिला चला था कि लड़कियों को भी कड़ी ...ी जाती थी। अनेक अभिभावक परेशान हो गए थे। कान्वेंट और पब्लिक ...की नकल पर आजकल तो गली-गली में अंग्रेजी माध्यम के अनेक स्कूल ...हैं। ये अंग्रेजी माध्यम की स्कूलें समय और सफाई की [illegible] देती ... अभिभावक ने अपने सभी बच्चे-बच्चियों को ऐसी एक स्कूल में भरती

... संभालनी पड़ता है। खेतों पर या दुकान
न या अन्य पैतृक धन्धों में काम करना पड़ता है। स्कूल में अनुपस्थिति लगती
जाती है। अन्त में एक दिन नाम ही कट जाता है। उनकी और उनके मा-बाप
की उम्मीदों पर पानी फिर जाता है।

हमारे एक मित्र बता रहे थे कि कोटा के पास एक छोटे से गांव में वे गए
हां सहरिया जाति के आदिवासी लोग रहते हैं। कुछ लड़के जो आश्रम-स्कूल
में रहते थे वे आश्रम-स्कूल को छोड़ आए। मेरे मित्र ने पूछा कि आश्रम-स्कूल
ापस नहीं जा सकते तो गांव के ही स्कूल में भर्ती क्यों नहीं हो जाते? लड़कों ने
ताया कि गांव की स्कूल उनसे प्रमाण-पत्र मांगती है। योग्यता जांच कर भर्ती
रने को तैयार नहीं है। प्रमाण-पत्र उनके पास कोई है नहीं। कैसे भर्ती हो, कैसे
ई जाते? मेरा मित्र जो शिक्षा विभाग का बहुत ऊंचा अधिकारी रह चुका था
न विचित्र हुआ, लेकिन क्या करता? नियम, नियम थे। बिना प्रमाण-पत्र तो
ली में ही भर्ती किया जा सकता था, जबकि वे चौथी कक्षा की उम्र के थे, उसी
यता के थे।

कर दिया। कम आय और सीमित साधनों के बावजूद उसने ऊंची फीसें दीं, महंगे कपड़े सिलवाए, लेकिन कुछ आलस्य के और कुछ पारिवारिक मजबूरियों के कारण न वह उन्हें नियमित रूप से समय पर भेज पाता था और न वांछित सफाई रख पाता था। कभी कपड़े गंदे तो कभी नाखून बढ़े हुए। अंग्रेजी माध्यम का विद्यालय होने के कारण संचालकों को अपना वातावरण और अनुशासन बिगड़ने का भय हुआ तो अभिभावक को चेतावनियां दी जाने लगीं और बच्चों को परेशान किया जाने लगा, यहां तक कि देर से आने पर वापस भी लौटाया जाने लगा। अभिभावक ने संस्था के खिलाफ शिकायतों का सिलसिला शुरू कर दिया। वह भूल गया कि वह वहां स्वेच्छा से गया था। गया था तो इस संस्था के नियमों का पालन करना भी जरूरी था। नाराज क्यों हुआ? संस्था के संचालक भूल गए कि यह गरीब देश है, इंग्लैण्ड नहीं है। यहां के लोगों का हौसला बढ़ाना है तो थोड़ा धैर्य भी रखना पड़ेगा। समय, सफाई और अन्य आदतों के विकास के लिए आप धैर्य न रखें तो आप बच्चे की सहायता कैसे करेंगे? धैर्य और स्नेह से ही आदतों का, नए संस्कारों का, निर्माण हो सकता है। संस्कारों के परिवर्तन में लगती है।

कहीं नियम कठोर : कहीं स्वभाव कठोर

ऐसे ही कुछ बच्चों को मैंने सरकारी स्कूलों से भी हटते देखा है। आप भी देखा होगा। फीस नहीं लाए? घर जाओ। गृह-कार्य नहीं किया? घ जाओ। कपड़े मैले हैं? मां-बाप को बुलाकर लाओ। पाठ्यपुस्तकें अभी तक नहं खरीदी? बैंच पर खड़े हो जाओ।

कुछ स्कूलों में कभी सर्कस के टिकट बेचने होते हैं, कभी बड़ी कक्षा कं विदाई के लिए चन्दा मंगाना होता है, कभी शिक्षक दिवस को झंडियां बेचनी होती हैं या ऐसे ही और भी तरह-तरह के कई अवसर आ जाते हैं जब टिकट के पैसे या चंदे के पैसे लाने को बालक को कहा जाता है। बड़ी स्कूलों का बड़ा चन्दा, बड़े समारोह। और न लाओ तो बड़ी सजा, बड़ी जलालत। बच्चा मुरझा जाता है। बहुत कष्ट पाता है।

संपन्न घरों के बच्चों को फीस, कपड़े या पाठ्य-पुस्तकों की तो कमी नहीं होती किन्तु स्कूल का कार्य या गृह-कार्य नहीं करने पर या पढ़ाई में पिछड़ जाने पर या स्कूल से भागकर सिनेमा देखने की या आवारागर्दी की लत पड़ जाने पर जब सजा मिलती है या अपमानित होना पड़ता है तब उनका भी स्कूल में टिकना मुश्किल हो जाता है। वे भी पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं।

आर्थिक रूप से पिछड़े हुए परिवार के, अनुसूचित जाति, जन-जाति के या किसानों के बच्चों को या प्राय: लड़कियों को मां-बाप के काम में हाथ बंटाना

पड़ता है। घर पर छोटे-भाई-बहनो को सम्भालना पड़ता है। खेतो पर या दु
मे या अन्य पैतृक धन्धो में काम करना पडता है। स्कूल मे अनुपस्थिति लग
जाती है। अन्त में एक दिन नाम ही कट जाता है। उनकी और उनके मां-ब
की उम्मीदो पर पानी फिर जाता है।

हमारे एक मित्र बता रहे थे कि कोटा के पास एक छोटे से गांव मे वे ग
जहा सहारिया जाति के आदिवासी लोग रहते हैं। कुछ लडके जो आश्रम-स्कू
मे रहते थे वे आश्रम-स्कूल को छोड आए। मेरे मित्र ने पूछा कि आश्रम-स्कू
वापस नही जा सकते तो गाव के ही स्कूल मे भर्ती क्यो नही हो जाते ? लडको ने
बताया कि गांव की स्कूल उनसे प्रमाण-पत्र मागती है। योग्यता जाच कर भर्ती
करने को तैयार नही है। प्रमाण-पत्र उनके पास कोई है नही। कैसे भर्ती हो, कैसे
पढे आगे ? मेरा मित्र जो शिक्षा विभाग का बहुत ऊचा अधिकारी रह चुका था
बहुत चितित हुआ, लेकिन क्या करता ? नियम, नियम थे। बिना प्रमाण-पत्र तो
पहली मे ही भर्ती किया जा सकता था, जबकि वे चौथी कक्षा की उम्र के थे, उसी
योग्यता के थे।

इस तरह कई कठिनाइया हैं। कही नियम कठोर हैं, कही स्वभाव कठोर
है। कोई किसी कारण स्कूल छोडता है और कोई किसी कारण। हमने हर स्तर
पर आधे से अधिक विद्यार्थियो को घोर निराशा के गर्त मे पतित करने का पक्का
प्रबन्ध कर रखा है, और लगातार करते चले जा रहे हैं। हमे शिक्षा का अवसर
देना है यह सर्वोच्च नियम भले आखो से ओझल होता रहे, बालक-बालिकाओ को
स्कूल से उठाने मे सहायक होने वाले सभी नियम हमे मजूर होते हैं। कितनी
विचित्र स्थिति है ? कैसा क्रूर मजाक है हमारी ही अपनी संतति के प्रति ? और
फिर हम उम्मीद करते हैं कि बच्चे आगे पढे ? हमारा देश आगे बढ़े ?

प्राथमिक स्तर पर अपव्यय

प्राथमिक स्तर पर ही बालक-बालिकाएं स्कूल छोड़ने लगते हैं। तकनीकी
भाषा मे इसे अपव्यय (वेस्टेज) कहते हैं। पिछले दिनो जो सर्वेक्षण हुए है, वे
बताते हैं कि लगातार लगभग एक ही रफ्तार से बच्चे स्कूल छोडते रहते हैं। केरल
एक अपवाद है जहा केवल 9.5 प्रतिशत बच्चे स्कूल छोड़ते है जब कि राजस्थान
मे 57 प्रतिशत और दादरा-नागर-हवेली मे 83.4 प्रतिशत बच्चे स्कूल छोड देते
हैं। देश का औसत शैक्षिक अपव्यय 62.7 प्रतिशत है। (देखें, परिशिष्ट-क)
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान व प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली ने इस प्रवृत्ति का अध्ययन
कराया है। राज्यों की शैक्षिक अनुसधान व प्रशिक्षण परिषदें (या सस्थान) भी
इस समस्या पर नजर रखती हैं, अध्ययन करती हैं। राजस्थान के शैक्षिक अनु-
सधान व प्रशिक्षण सस्थान, उदयपुर, ने जो हाल ही मे एक अध्ययन पूरा किया

है (देखें, परिशिष्ट 'ख' व 'ग') उसके अनुसार—

1. पिछले दस वर्षों में छात्र-छात्राओं की संयुक्त शैक्षिक अपव्यय दर कक्षा 1 से 5 में न्यूनतम 56.51 (1971-72) और अधिकतम 68.88 रही।
2. छात्र-छात्राओं को अलग-अलग देखें तो छात्रों की अपव्यय दर न्यूनतम 55.17 (1971-72) और अधिकतम 66.91 (1967-68) रही जबकि छात्राओं की दर न्यूनतम 60.14 (1974-75) तथा अधिकतम 75.16 (1967-68) रही।
3. अनुसूचित जाति के 1976 से 1981 के बीच छात्र-छात्राओं की (कक्षा 1 से 5 तक) अधिकतम अपव्यय दर 77.33 (चूरू जिले में) और न्यूनतम दर 15.90 (सीकर जिले में) रही। अनुसूचित जनजाति के छात्र-छात्राओं की दर अधिकतम 87.25 (नागौर जिले में) और न्यूनतम 0.85 (सीकर जिले में) रही। राजस्थान की कुल अपव्यय दर अनुसूचित जाति की 59.12 तथा अनुसूचित जनजाति की दर 70.23 रही।

कुछ और अध्ययन

बीच में ही स्कूल छोड़कर चले जाने वाले विद्यार्थियों के अध्ययन का सिलसिला 1929 में हार्टोग कमेटी की रिपोर्ट से प्रारम्भ हुआ था। गाडगिल और दाण्डेकर ने सतारा जिले (महाराष्ट्र) की समस्या का अध्ययन किया जो 1955 में प्रकाशित हुआ था। उससे पहले 1941 में बम्बई के प्रांतीय बोर्ड ने भी एक अध्ययन प्रकाशित किया था। बम्बई के ही शिक्षा विभाग की शोध इकाई ने बम्बई के प्राथमिक विद्यालयों का अध्ययन किया था जिसकी रिपोर्ट भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से 1960 में प्रकाशित हुई थी।

मौनी विद्यापीठ गारगोटी (कोल्हापुर) के प्रो॰ डी॰ बी॰ चिक्रमने ने भी एक अध्ययन किया था जो एम॰ एस॰ विश्वविद्यालय बड़ौदा से 1962 में प्रकाशित हुआ था। बंगाल के 24 परगना जिले का अध्ययन भी चौधरी ने 1965 में किया था। प्रो॰ सी॰ एस॰ मारदा ने इस क्षेत्र में होने वाले कार्य को गति देने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तिकाएँ लिखी हैं। उनकी एक पुस्तिका 1967 में प्रकाशित हुई थी जिसमें अध्ययन विधि, अनुसंधान आलोचना तथा अपव्यय-अवरोधन की समस्या के उपायों का वर्णन था। यह आज भी उपयोगी है। उनकी दूसरी पुस्तिका 1972 में प्रकाशित हुई जिसमें अपव्यय मापन के तकनीकी पक्ष — कोहोर्ट मैथड (Cohort Method) पर विस्तृत सामग्री दी गई।

[illegible]

विद्यार्थियों का भी एक पूरा समूह लिया जाता है। किसी वि
कक्षा से प्राथमिक शिक्षा की अन्तिम कक्षा (चौथी या पांच
जाता है, पीछा किया जाता है। अनुसन्धानकर्त्ता उस सम
लगातार निगाह रखता है, ऊपर राजस्थान के जिस अध्ययन
है वह इसी प्रणाली पर आधारित है।

प्रौढ़ शिक्षा और अनौपचारिक शिक्षा

समस्या का जो स्वरूप ऊपर प्रस्तुत किया गया
गम्भीर चिन्ता का विषय है। इसके हल के लिए अलग-अलग
कहीं कुछ उपाय उभर हुए हैं, जैसे राजस्थान का 'प्रहर प
समय-समय पर कई लोगों ने कुछ सुझाव भी दिये हैं, जैसे
1934 में दिया गया सुझाव कि कक्षा 1 व 2 को 3-3
बनाया जाय और कक्षा 3 व 4 को अशकालिक बना दिया
खारी का 1949 में दिया गया सुझाव कि पढ़ाई हो तब
सप्ताह में केवल 3 दिन हो, शेष चार दिन बच्चा मां-बाप
का धन्धा सीखे (एप्रेंटिस बनकर), और विनोबा जी का
सुझाव कि सबेरे मात्र 1 घन्टा ही पढ़ाई हो बाकी पूरा
की सहायता करे, काम-धन्धे में लगा रहे। विनोबाजी
प्रौढ़ शिक्षा हो जिसमें बच्चों को भी आने की छूट हो। को
में सुझाव दिया कि बहुबिन्दु प्रवेश (मल्टीपल एन्ट्री) का
का अवसर हो, पड़ोस के विद्यालय को छोड़ अन्यत्र जान
और अंशकालिक शिक्षा का प्रावधान 11-14 आयु वर्ग के
यूनेस्को के शिक्षा आयोग ने 1972 में शिक्षा के
स्वतन्त्र,लचीला, वैविध्यपूर्ण और आजीवन बनाने की
शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और आजीवन अनवरत शिक्षा की
श्री जे० पी० नायक कोठारी आयोग के सदस्य सचिव
जारी रखा और प्राथमिक शिक्षा व अनौपचारिक शिक्षा
विद्यार्थियों की शिक्षा पर बल दिया। भारत सरकार ने
कार्यक्रम द्वारा बीच में स्कूल छोड़कर जाने वाले
शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा के हजारों केन्द्र खोले। उद्देश
लायक हो, अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक हों, और
कुछ कौशल सीखें और कुछ [illegible] प्राप्त करें।

भी किया जा रहा है। लेकिन समस्या के आकार के अनुरूप इस अभियान में शक्ति अभी नहीं लग पाई है। आशा है केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें इस पक्ष पर अधिक वित्तीय प्रावधान करेंगी और सभी का सहयोग लेकर इसको सफलता का प्रयास करेंगी। स्कूल के भवन, पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या की सीमाओं में जो रह नहीं सके या भविष्य में आना जिनके लिए सम्भव नहीं है, उनकी शैक्षिक आवश्यकताओं का प्रबन्ध हमारी प्राथमिकताओं में शीर्ष स्थान पर रहना चाहिए।

पत्राचार शिक्षा

कुछ विश्वविद्यालयों ने और माध्यमिक शिक्षा बोर्डों ने पत्राचार के माध्यम से भी शिक्षा का प्रबन्ध किया है। जो लोग स्कूल जा नहीं पाते या जो स्कूल में प्रवेश नहीं प्राप्त कर पाते उनको घर बैठे शिक्षा की सुविधा मिलती है। यह भी एक प्रकार की अनौपचारिक शिक्षा है।

पत्राचार से हों चाहे अन्य अनौपचारिक साधनों से, बिना स्कूल गये जो लोग परीक्षा उत्तीर्ण करके प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हैं, उनको समाज में अभी निम्न स्तर का माना जाता है। नियमित छात्रों की तुलना में स्वयंपाठी छात्र निम्न कोटि का कहलाता है। जो सर्वथा निरक्षर है वह तो तयशुदा निम्नतम कोटि का जीव होता है। अक्षर और स्कूल को हमने जो यह अतिवादी मान्यता व श्रेष्ठता दे दी है वह गलत है। ईवान इलिच और पावलो फेरे ने इन मिथ्या धारणाओं का जब से उच्छेदन किया है तब से कुछ हवा बदली है, लेकिन यह हवा ऊंट के मुंह में जीरे जितनी ही बदली है। इसे और तेजी से बदलना है, जो लोग शिक्षा के अवसरों से वंचित हैं, उन तक ये अवसर कैसे पहुंचेंगे, कब पहुंचेंगे इसका शीघ्र से शीघ्र उपाय करना है। यदि हम संस्थाओं की संख्या नहीं बढ़ा सकते हैं तो हमें प्रत्येक आशार्थी को प्रवेश देकर जितना धन, भवन और स्टाफ है, उतने का ही उपयोग करते हुए कुल पीरियड राजगोपालाचारी शैली या विनोबा शैली अपनाकर कम कर देने चाहिए।

राजस्थान की प्रहर पाठशाला

राजस्थान में एक प्रयोग प्रहर पाठशाला का हुआ था। श्री बालगोविन्द तिवाड़ी जब राज्य शिक्षा संस्थान उदयपुर (अब "राज्य शैक्षिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण संस्थान") के संस्थापक-निदेशक बने तो उन्होंने राजगोपालाचारी शैली, विनोबा शैली और पर्कलेकर शैली आदि का सार निचोड़कर शैक्षिक बच्चियों की संख्या बढ़ने से रोकने के लिए 'प्रहर पाठशाला' नाम का एक प्रयोग भीमवाड़ा

जिले की शाहपुरा आदि तीन पंचायत समितियों में शुरू किया था। इस योजना में छात्र को विद्यालय में केवल 3 घंटे ही रहना पड़ता था। इनका समय विद्यार्थियों की सुविधा से तय होता था। ये विद्यालय 7 से 10, 8 से 11, 10 से 1, 12 से 3, 6, या शाम 6 से 9 बजे तक भी चलाये जा सकते थे। जो भी समय विद्यार्थी को उपयुक्त हो वही इस विद्यालय को स्वीकार्य होता था। प्रायः यही समय की समस्या सबसे बड़ी बाधा होती है। श्री तिवाड़ी ने अपने इस प्रयोग का वैचारिक आधार, उद्देश्य और आवश्यकता समझाते हुए एक पुस्तक भी लिखी है "प्रहर पाठशाला—द थ्री आवर स्कूल" जो अनुराग प्रकाशन, अजमेर, से प्रकाशित हुई है। आजकल इस प्रयोग का कोई "धणी-धोरी" नहीं रहा है, इस कारण जिला शिक्षा अधिकारी ने सम्भवतः इन विद्यालयों को परंपरित पूरी अवधि वाले विद्यालयों में बदल दिया है। अच्छी-बुरी सभी योजनाओं के साथ सरकारी तंत्र में ऐसा होना आश्चर्यजनक नहीं। जिस रोज कोई जागेगा और इस महत्वपूर्ण प्रयोग की वास्तविकता पर दृष्टिपात करेगा उस रोज विद्यार्थी के समय और विद्यार्थी की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा का प्रबन्ध करने वाली प्रहर पाठशालाओं का पुनरागमन भी अवश्य होगा।

कर्नाटक में नीलबाग का प्रयोग

शिक्षा में परिवर्तन के लिए शिक्षा से जुड़े लोगों की जागरुकता आवश्यक है। चाहे सरकार हो चाहे सरकार के बाहर, शिक्षा की प्रक्रिया पूरे परिप्रेक्ष्य में समझने का जो यत्न नहीं करेंगे वे न कोई परिवर्तन या प्रयोग करेंगे और न किसी परिवर्तन या प्रयोग का कोई विचार ही पैदा होने देंगे। ऐसे लोग प्रकट में सत्ता के पोषक लेकिन वास्तव में सत्ता के दुश्मन होते हैं। शिक्षा का प्रबन्ध शिक्षा की कसौटी से न करके यदि वे सत्ताधीशों की मन की तरंगों के अनुसार करते हैं तो वे कोटि-कोटि जन के साथ बहुत बड़ा छल करते हैं और भावी पीढ़ी के मूल को खोखला करते हैं। पुणे के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री श्रीपाद अच्युत दभोलकर ग्राम विकास के लिए विज्ञान की शिक्षा का नया आधार निर्मित करने में वर्षों से दत्तचित होकर लगे हुए हैं। पश्चिमी जर्मनी के विट्जेनहौसेन नगर में एक बार उनकी भेंट विश्वविख्यात क्रांतिकारी शिक्षाविद पावलो फ्रेरे से हो गयी। विशेष आमन्त्रित श्रोतासमूह के समक्ष इन दोनों के बीच लम्बा संवाद हुआ। उस संवाद के दौरान पावलो फ्रेरे ने शिक्षा की राजनीतिक प्रकृति के विषय में जो विचार व्यक्त किये थे वे मात्र सत्ताधीशों का मन रखने वाले शिक्षा प्रशासनों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—"शिक्षा समाज को स्वरूप प्रदान नहीं करती है। इसका विलोम होता है। समाज में जो जो सत्ता में होते हैं, उनके हितों के अनुरूप पहले समाज खुद ढलता है, फिर वह शिक्षा को ढालता है, स्वरूप देता है। बुर्जुआ समाज को बुर्जुआ शिक्षा

ने पैदा नहीं किया था। बुर्जुआ शिक्षा ने बुर्जुआ सिद्धान्तों को ठीक तब फैलाया जब बुर्जुआ लोग सत्ता में पहुंच गये और सत्ता में बने रहने के लिए उन्होंने बुर्जुआ शिक्षा को सस्थाबद्ध कर डाला। कम से कम मेरे लिए तो शिक्षा पर विचार करना सत्ता पर विचार किये बिना सम्भव ही नहीं है।"

(नया शिक्षक, जन-मार्च 1981, पृ. 62)

एक जागृत विवेकपूर्ण मस्तिष्क के विकास के लिए 'कोंमियंटाइजेशन' प्रणाली द्वारा पावलो फ्रेरे ने ब्राजील के बाद दुनिया के अन्य कई देशों में जो कार्य किया है और अपने सक्रिय प्रयोगों के माध्यम से जो नया शिक्षा दर्शन बनाया है, वह दलित, शोषित और पीड़ित वर्ग को केन्द्र मानकर शिक्षा की पुनर्रचना का प्रयत्न करता है। जो लोग स्कूलों के बाहर रख दिये जाते हैं, कालेजों और विश्वविद्यालयों तक पहुंचना जिनके लिए मात्र एक दिवास्वप्न है, उनके शिक्षा का यह सारा ढांचा ही उत्पीड़न और शोषण का ही एक विराट आयोजन है। श्री बालगोबिन्द तिवाड़ी ने "प्रहर पाठशाला" मे लिखा है कि यह प्रणाली चयन के लिए, पददलित करने के लिए, छांट-छाट कर निकाल बाहर करने के लिए है। वे एक तर्क देते हैं कि यदि शतप्रतिशत लोग शतप्रतिशत अंक ले आयेंगे तो क्या होगा? यह प्रणाली निरर्थक हो जायेगी। इसलिए इस प्रणाली की सार्थकता ही इसी मे है कि अधिक को फेल करो या नीचे के कोष्ठक वाले अंक समूह मे रखो, ताकि अगले स्तर पर प्रवेश के लिए या नौकरियों मे नियुक्ति के लिए 80-90 प्रतिशत वाले लोगो की भीड़ न उमड़ पड़े। हमे यदि सचमुच प्रतिभा के विकास का अवसर देना है तो रुकावटें डालने वाली मौजूदा प्रणाली दूर कर सहारा देने वाली प्रणाली स्थापित करनी चाहिए।

बंगलौर के पास नीलबाग नामक गाँव मे डेविड होर्जबरो एक ऐसे ही प्रयत्न मे लगे हैं। उन्होंने अभी पिछले दिनों बच्चों की पत्रिका 'टागिट' (लक्ष्य) की सम्पादिका रोजालिण्ड एम० विल्सन को एक साक्षात्कार दिया था जिसमे उन्होंने कहा था कि स्कूल से बच्चों के भागने का एक बड़ा कारण यह भी है कि हमने स्कूल को कई कक्षाओं मे बांट रखा है। इसलिए उनकी नीलबाग स्कूल में कोई ग्रेड, स्टैण्डर्ड या कक्षाएं नही होतीं। फेल होते हैं, वे भी स्कूल छोड़ देते हैं, इसलिए डेविड हॉर्जबरो की नीलबाग स्कूल में कोई परीक्षाएं नही होती। हर बच्चा अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार आगे बढ़ता है।

डेविड हॉर्जबरो की नीलबाग स्कूल, बीच में स्कूल छोड़ जाने वाले बच्चों की समस्या के समाधान की दिशा में एक बहुत बड़ा प्रयोग है। पिछले दस वर्षों की अवधि मे किसी बच्चे की कोई परीक्षा, कोई परख आयोजित नहीं की गई। किसी बच्चे को स्कूल में कोई विषय किसी रोज नहीं पढ़ना है, तो वैसा करने की उसे पूरी छूट है। वे वही पढ़ते हैं जिसमे उनकी रुचि है। रुचि इसलिए भी होती है

कि वे उसे पढ़ना जरूरी समझते हैं। जरूरी समझें तो स्कूल में ठहरें अन्यथा घर जाएं। डेविड तो उन्हें त्रिभाषा सूत्र नहीं, पांच भाषा सूत्र सिखाएगा। अन्य राज्यों में त्रिभाषा सूत्र का चलना भी मुश्किल है। तेलुगु मातृभाषा, कन्नड राज्य की राज्यभाषा, हिन्दी देश की राज्यभाषा, अंग्रेजी भी देश की राज्यभाषा और अन्य राज्यों से सम्पर्क का माध्यम और संस्कृत तो भारत की प्राचीन साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के परिचय के लिए आवश्यक। यों डेविड पांच भाषाएं सिखाता है। फिर गणित, विज्ञान, पर्यावरण, कला, उद्योग, कुम्हार की कला, काष्ठकला, दर्शनशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, संगीत परिचय और विचार-विमर्श की विधियां भी सिखाये जाते हैं, कहीं भी इतना वैविध्य नहीं मिलेगा। जो 2 से 22 वर्ष की उम्र के छात्र हैं, कोई बन्धन नहीं। बन्धन एक ही है कि पढ़ो ! ज्ञान मांगो। पढ़ाने वाला सभी विषयों का पंडित न हो, तो भी पढ़ा सकता है नीलबाग में। असली योग्यता वहां होती है, पढ़ाने की इच्छा। जैसे छात्रों के लिए असली योग्यता जो अपेक्षित है वह यही कि पढ़ने की इच्छा हो। एक छात्र पी० यू० सी० में फेल हो गया। स्कूल-कॉलेज नहीं गया। नीलबाग आया। आज वह बी० ए० पास हो गया है। एक लड़का है जो आई० ए० एस० करना चाहता है। वह भी आता है। सभी बच्चों से प्रति सप्ताह बातचीत होती है, वे आगे क्या पढ़ेंगे, इस पर चर्चा होती है। वे क्या पढ़ेंगे यह वे ही तय करते हैं, अंग्रेजी उनकी बहुत अच्छी है। बारह-तेरह वर्ष के बच्चे शेक्सपीयर के छह मूल अंग्रेजी नाटक पूरा कर चुके हैं, सातवां पढ़ रहे हैं, संस्मरण रहे यह कोई अंग्रेजी माध्यम स्कूल नहीं है। फिर भी बच्चे इतना बहुत ऊंचा स्तर छोटी उम्र में स्वतः ही प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि विवशता नहीं, स्वेच्छा है। किसी की परीक्षा नहीं, इसलिए कोई असफल नहीं होता। जो सीखते हैं, वही सफलता है, इसलिए दुगुने उत्साह से आगे बढ़ते हैं। ऐसी हालत में स्कूल छोड़ने का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता।

विकल्पों की आवश्यकता

स्पष्ट है कि प्राथमिक, माध्यमिक किसी भी स्तर पर स्कूल छोड़ जाने वालों की समस्या का एक समाधान नहीं, कई समाधान हैं। आज जो ढांचा हमारे सामने है, उसे बदलने के लिए हमें तैयार होना पड़ेगा। तैयार होने के लिए डेविड हॉर्सबरो जैसी दूरगामी दृष्टि और संकल्प की दृढ़ता धारण करनी होगी। प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा और पत्राचार में भी ऐसा ही लचीलापन लाना होगा। पावलो फ्रेरे ने सावधानी के जो बिन्दु बनाये उन पर ध्यान देकर आत्म-निर्भर मस्तिष्क के निर्माण को आदर्श बनाना होगा। परीक्षा, प्रमाण-पत्र आदि की कृत्रिम रुकावटों से जुड़ी शिक्षा प्रणाली में भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन जितना शीघ्र हम ला सकेंगे उतना ही शीघ्र हम विद्यालयों के

बाहर भटकते असफल, असन्तुष्ट, आत्म-विश्वास रहित विद्यार्थियों का आत्म-विश्वास लौटा सकेंगे और उन्हें सफलता की, सन्तोष की प्रतीति कराके सार्थक-जीवन का साक्षात्कार करा सकेंगे।

विकल्प के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है। डेविड हार्जवरो का दस वर्षों से आजमाया जा रहा विकल्प बिल्कुल सही है। इसी को सामने रख कर हम अंशकालिक, अनौपचारिक और प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों का नया स्वरूप तय करते हैं। प्राथमिक शिक्षा या माध्यमिक शिक्षा का पूर्ण-कालिक होना क्यों जरूरी है? 'नया शिक्षक' के एक अंक में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त स्वीडन के शिक्षाविद प्रो० टॉर्स्टन हुसेन ने गत वर्ष लिखा था—"कई देशों में बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक प्राथमिक शिक्षा पूर्णकालिक नहीं, अंशकालिक ही थी। विद्यालय में प्रवेश की आयु बहुत लचीली थी। और पाठ्यक्रम भी वर्गीकृत नहीं था। मैं आपको याद दिलाना चाहता हूं कि औपचारिक शिक्षा का जो वर्तमान ढांचा आप लोग यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका से लाये हैं, वह पुराना नहीं है, अभी हाल ही का है। वह शहरों में पैदा हुआ था, जहां बच्चों को पूरे समय स्कूल भेजना आसान था और जहां घरों पर बच्चों की उपस्थिति आवश्यक नहीं थी।" ('नया शिक्षक' अप्रैल-जून-82, पृ०71)

अब हमें गावों के नमूने पर नया ढांचा बनाना होगा, ताकि शहरों के बच्चे (जो मूलतः गांव से गये हैं) वापस गांव लौट सकें। हमारे देश का 85 प्रतिशत भाग गावों में रहता है। गावों में बच्चों के लिए घर पर काम की कोई कमी नहीं होती। स्कूल हो या घर, बच्चे को काम सौंपिये, वह बहुत खुश होगा। उसमें अद्भुत ऊर्जा और स्फूर्ति होती है। गिजुभाई कहा करते थे—

"उसे रूमाल धोने दीजिए।
उसे प्याला भरने दीजिए।
उसे फूल सजाने दीजिए।
उसे कटोरी माजने दीजिए।
उसे मटर की फली के दाने निकालने दीजिए।
उसे परोसने दीजिए।
बालक को सब काम खुद ही करने दीजिए।
उसको अपनी रीति से करने दीजिए।
उसको अपनी मरजी से करने दीजिए।

—स्व. गिजुभाई बधेका, (अनु काशिनाथ त्रिवेदी),
प्रासंगिक मनन, गांधी भवन न्यास,
भोपाल, पृ. 5)

हमारी समूची सही सार्थक शिक्षा की सफलता का बीज-मंत्र इसी में छिपा—'बालक को सब काम खुद करने दीजिए', 'उसको अपनी रीति से करने दीजिए'

और 'उसको अपनी मरजी से करने दीजिए।'

बच्चे को स्कूल के भीतर आप रखें या न रखें, शिक्षा की परिधि के भीतर आपको देश के तमाम बच्चों को रखने का कोई-न-कोई प्रबन्ध तत्काल करना होगा अन्यथा अनौपचारिक और प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के उम्मीदवारों की तादाद बढ़ती ही चली जायेगी। उसका आज भी पूरा प्रबन्ध नहीं हो रहा है, बाद में कैसे होगा ?

•

परिशिष्ट—क

राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में प्राथमिक स्तर पर शैक्षिक अपव्यय दर एवं क्रम

क. सं.	राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश	70-71 से 74-75 तक		71-72 से 75-76 तक		72-73 से 76-77 तक		73-74 से 77-78 तक	
		दर	श्रेणी	दर	श्रेणी	दर	श्रेणी	दर	श्रेणी
1.	आन्ध्र प्रदेश	65.9	18	65.2	17	65.6	19	62.2	17
2.	आसाम	72.1	23	71.4	24	38.7	77	69.5	21
3.	बिहार	73.7	24	72.7	25	63.7	18	65.7	18
4.	गुजरात	65.5	17	64.9	18	63.7	18	60.7	16
5.	हरियाणा	42.9	8	41.3	8	41.6	9	28.9	6
6.	हिमाचल प्रदेश	34.8	4	33.9	4	30.8	5	32.6	8
7.	जम्मू कश्मीर	55.1	11	54.8	12	52.6	13	48.9	12
8	कर्नाटक	68.9	19	68.9	22	67.9	20	67.5	20
9.	केरल	29.8	3	20.6	2	6.2	1	9.4	1
10.	मध्य प्रदेश	62.9	14	68.2	21	75.7	26	65.8	19
11.	महाराष्ट्र	58.0	13	59.1	14	56.1	14	56.6	13
12.	मणिपुर	81.9	26	81.5	28	81.5	28	81.2	28
13	मेघालय	76.8	25	76.6	26	75.6	25	75.1	25
14	नागालैण्ड	70.1	21	67.7	19	59.3	15	62.0	15
15	उड़ीसा	70.7	22	70.2	23	71.6	23	70.9	22

क्र. सं.	राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश	70-71 से 74-75 तक		71-72 से 75-76 तक		72-73 से 76-77 तक		73-74 77-78	
		दर	श्रेणी	दर	श्रेणी	दर	श्रेणी	दर	श्रेणी
16.	पंजाब	39 2	7	38.6	6	45.3	10	45.5	1
17	राजस्थान	63 7	15	56 5	13	60 9	16	57.0	1
18.	सिक्किम	—	—	—	—	—	—	—	—
19.	तमिलनाडु	48 2	10	48 3	10	47.2	11	43.7	9
20.	त्रिपुरा	63.8	16	66 9	18	73.2	24	72.2	23
21.	उत्तर प्रदेश	70.1	21	70.2	23	71.0	22	76.0	26
22.	पश्चिमी बंगाल	68.9	19	68.0	20	69.7	21	72.3	24
23.	अंडमान नीकोबार द्वीप समूह	43.0	9	41 0	7	40 0	8	31.9	9
24.	अरुणाचल प्रदेश	69.2	20	81.6	29	79.9	26	77.7	27
25.	चंडीगढ	23.5	2	26 6	3	20.5	3	20.9	2
26.	दादरा नागर हवेली	84 2	27	81.4	27	85.1	29	83.4	29
27.	दिल्ली	14 0	1	14.1	1	17.5	2	23.2	3
28.	गोआ दमन द्वीप	55.7	12	53.4	11	49 1	12	48.6	11
29.	लक्ष्य द्वीप	35.6	5	47.6	9	21.4	4	24.2	4
30.	मिजोरम	—	—	62.2	15	61.9	17	57.0	14
31.	पाण्डिचेरी	37.3	6	36.2	5	30.9	6	25.2	5
	भारत	63.2		62.8		63.1		62.7	

(कक्षा 1 से 5 तक शैक्षिक अपव्यय दर)

वर्ष	छात्र	छात्रा	संयुक्त
67-68	66.91	75.16	68.88
68-69	63.05	66.88	63.80
69-70	62.94	63.65	63.11
70-71	63.30	64.76	63.70
71-72	55.17	60.66	56.51
72-73	60.09	63 70	60.90
73-74	60.25	65.99	61.62
4-75	63.77	60.14	64.81
5-76	62.25	68 59	63.85
6-77	56.66	63 38	58.40

परिशिष्ट-ग

राजस्थान में अनुसूचित जाति के समस्त छात्र-छात्राओं में शैक्षिक अपव्यय दर (कक्षा 1 से 5 तक) 1975-76 से 1979-80

क्रमांक	जिला	कक्षा प्रथम	कक्षा पांचवीं	परित्याग	प्रतिशत
1.	अजमेर	6433	2669	3764	58.51
2.	अलवर	5786	2312	3474	60 04
3.	भरतपुर	6636	2813	3823 .	57.61
4.	जयपुर	10523	3948	6575	62.48
5.	झुंझनू	3499	1503	1996	57.04
6.	सीकर	1942	1556	386 ,	19.88
7.	सवाई माधोपुर	4849	2032	2917	59.94
8.	टोंक	2698	885	1813	67.70
9.	बीकानेर	2212	371	1841	83.23
10.	चूरू	3384	737	2647	78.22
11.	गंगानगर	5479	2061	3418	62.38
12.	बाड़मेर	849	349	500	58 89
13.	जैसलमेर	379	63	316	83.38
14.	जोधपुर	3273	1188	2085	63.70
15.	जालौर	1700	448	1252	73 65
16.	सिरोही	1823	598	1225	67.20
17.	नागौर	3716	1261	2455	66 07
18.	पाली	5085	1457	3608	71.23
19.	कोटा	6757	2305	4452	65 89
20.	बून्दी	2177	591	1586	72 85
21.	झालावाड़	17 9	590	1149	66 07
22	बांसवाड़ा	640	248	392	61 25
23	भीलवाड़ा	3222	901	2321	72 04
24	डूंगरपुर	763	194	569	74 57
25.	चित्तौड़गढ़	2969	928	2041	68 74
26	उदयपुर	4342	1445	2897	68 11
		[illegible]	[illegible]	[illegible]	61 98

शिक्षा और जनतंत्र

विद्यार्थियो के विश्व भर मे अनेक स्थानो पर आदोलन हुए है। इनका अध्ययन कर कुछ लोगो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमे एक यह भी है कि विद्यार्थी वर्ग मे आत्मपीडन की अथवा परपीडन की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है और फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धात के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि आज का विद्यार्थी अपने ही जनक को अपनी असफलताओ और असतोष का कारण या जनक मान कर जो कुछ भी पितृ-रूप नजर आता है, उसे पीडा पहुचाने मे या उसे समाप्त या स्वाहा करने मे रस लेने लगता है या दूसरा कोई आलबन नही मिलता है तो स्वय को ही विपदाओ की अग्नि मे झोक कर आत्मपीडन और अन्तर्दाह उत्पन्न करता है और कभी-कभी तो इतने आत्मघाती कदम उठा लेता है कि 'शहीद' बन जाता है।

जो 'शहीद' बनता है हम उसकी मूर्ति स्थापित करने और उसी भाति आत्मघाती मार्ग पर चलते रहने की कसमे खाते हैं, प्रयत्न भी करते हैं और हम में फिर कभी कोई आत्मपीडन अथवा परपीडन का रसिक उत्पन्न होता है जो 'आत्मघात' की ओर पुनः हमारा नेतृत्व करता है। यह 'आत्मघात' पुलिस की गोली से भी हो सकता है और दो दलो के बीच लडाई से भी हो सकता है और बार-बार फेल हो कर, आर्थिक विपन्नता को या दिवालियेपन को न्योता देकर या और ऐसी ही कोई भारी हानि किसी भी दिशा से उठाकर, यह शहीदी का 'सेहरा' सिर पर बाधा जा सकता है। तब यदि वह जिंदा है तो लोग जुलूस निकालते हैं और मर जाता है तो मूर्ति खड़ी करते हैं। 'हीरो' के एक इशारे पर जन-धन को हानि पहुचा देना अनुयायी दल के लिए किंचित भी कठिन काम नही है। जनतत्र मे जन-जीवन की बागडोर उसी के हाथ मे होती है जिसके पीछे जनमत है और जनमत तभी टिकाऊ होता है, जब 'जन-राशि' का, 'जन-शक्ति' का प्रदर्शन किया जाए। इसलिए बिना टिकट सफर करने की बात हो, बिना पढ़े पास होने की इच्छा हो तो तत्काल जन-शक्ति के प्रदर्शन से हमारे छात्र नही चूकते है। अकेला व्यक्ति

... आरंभ होगा तो बिजली की तरह सब जगह फैल जाएगा। कॉपी की लत लगेगी तो सभी को समेट लेगी। रैगिंग का राग चलेगा तो उसी सुर में अलाप लेने लगेंगे। यह कोई ऐसी बात तो नहीं है जिस पर व्यक्ति स्वयं काबू नहीं पा सकते। बुरा काम तो किसी को भी अच्छा नहीं लगता है किंतु बराबरी वालों का समूह जब हावी हो जाता है तब व्यक्ति का अपने पर वश नहीं रहता है। वह बुरी आदतें अपनाने को विवश हो जाता है और जनतंत्र के नाम पर स्वयं भी जनतंत्र की बलिवेदी पर चढ़ जाता है। इसे भी हमें 'नरबलि' में शुमार करना होगा क्योंकि जो कुछ वह कर रहा है वह विवश होकर कर रहा है। विवेक से व्यक्ति काम करे, स्वप्रेरणा से, ऐसा अवसर ही कहाँ रह पाता है। दुकानें बंद कराई जाती हैं। या की जाती हैं—यह बताने की आवश्यकता नहीं।

हमें हमारा स्वाभिमान प्यारा है लेकिन हमारे स्वाभिमान की रक्षा दूसरे के स्वाभिमान पर बलपूर्वक प्रभुत्व जमाने में हो तो हमारा स्वाभिमान कितने दिन तक सुरक्षित रह सकेगा?

हमें अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए संघर्ष करना जरूरी है, हमारे हितों की रक्षा और समृद्धि के लिए लड़ना हमारा अधिकार हो सकता है, किंतु जनबल के बहाव में अपने-आपको छोड़ देने वाला 'जन' जनतंत्र की रक्षा कर सकेगा, इसमें आप कैसे विश्वास करेंगे?

शिक्षा द्वारा सही जनतंत्र की स्थापना के लिए और जनतंत्र की सही शिक्षा के लिए हमें इन प्रश्नों पर कभी-न-कभी तो विचार करना ही होगा।

विद्यार्थी वर्ग, शिक्षक वर्ग और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को कभी-कभी भविष्य में भी झाँक भर अवश्य लेना चाहिए। आज के बालक कल किशोर होंगे, आज के युवा कल प्रौढ़ होंगे, क्या हम कल की संभावनाओं की रोशनी में वर्तमान पर दृष्टिपात नहीं कर सकते हैं?

शिक्षा जगत के लिए यह एक महत्वपूर्ण विचार का प्रसंग है। शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन लाने की जिम्मेवारी जितनी शिक्षक की है उतनी ही शिक्षार्थी की और समाज की भी। किंतु कोई प्रणाली हो, कोई तंत्र हो, जिसको जो काम हम सौंपें उसे काम करने का अधिकार ही न दें तब प्रणाली कैसे चलेगी? हम चुनाव करें और किसी एक को नेता बनाएं, यह तो जनतंत्र है, लेकिन जिसे नेता बनाएं, उसे ही कार्य न करने दें और कदम-कदम पर उसका व उसके द्वारा बनाए कानून व प्रबंध का हाथ पकड़ लें तो वह प्रणाली का संचालन कैसे करेगा?

हर साल आप सुनते हैं कि अमुक विश्वविद्यालय बंद हो गया—कभी विद्यार्थियों ने माँगें रख दी और कभी शिक्षकों ने चक्का जाम कर दिया—किंतु इससे लाभ क्या हुआ? किसी ने विवश होकर आपको तात्कालिक लाभ दे दिया और आप विजय के अभिमान में फूले नहीं समाए, लेकिन तब आपने विधान सभा

क्यों बनाई और गलत क्यों बनाई ? शिक्षक और शिक्षार्थी का ही पक्ष लें और कहें कि कोई गलती करता है तो रोकना हमारा अधिकार है, लेकिन गलती कैसी ? हमारी मनगुनी, हमारे स्वार्थ की चोट—यही न ? गलती वहीं होती है जहां कुछ ऐसा घटित होता है जो कभी एक को और कभी अनेक को अप्रिय हो जाता है। पर जब मतान्तर का भार किसी को सौंपें तब ऐसी सच्ची झूठी सम्भावनाएं तो रहेंगी ही। जिसे काम सौंपा है उसे नियत समय तक स्वविवेक से काम करने देना भी तो जनतंत्र का ही तकाजा है। क्षण-क्षण में नेतृत्व बदलने का या नेतृत्व को शक्तिहीन करने का हम ही प्रयत्न करेंगे तो हमारी किसी भी प्रणाली के संचालन का भार अपने कंधों पर कौन लेगा ?

विद्यार्थी वर्ग को माता-पिता और समाज यह अवसर देते हैं कि वह धनोपार्जन की ओर अन्य सामाजिक दायित्वों की चिंताओं से मुक्त रहकर अध्ययन-चिंतन-मनन द्वारा अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करे। यह का उसे समय है, अवसर है। वह विचार करे, चिंतन-मनन करे, अध्ययन-अ करे।

विद्यार्थी विचार ही न करना चाहे, ऐसा तो शायद नहीं होगा। से तोड़-फोड़ के जो विचार आए हैं उन्हें बिना समझे-बूझे उनका अंधा करने को उसका मन शायद ही गवाही दे सके। संकट यही है कि चिंतन-म वातावरण लुप्त होता जा रहा है। राजनीति के प्रभाव में विद्यार्थी नहीं आए न आए, ऐसी कामना मैं नहीं करता। विद्यार्थी विद्रोह न करें, आक्रोश [illegible] करें, यह प्रतिबंध लगाने का भी नुस्खा मैं प्रस्तुत नहीं कर रहा हूं। लेकिन व कर रहा है वह क्यों कर रहा है और उसका उसके विद्याध्ययन में कोई उप आशय है या नहीं, यह विचार करने के लिए वह तैयार रहे, तो सही शिक्षा की बढ़ने की संभावना अवश्य उत्पन्न हो सकती है। हम जानते हैं कि हमारा प्र आचरण हमारे इर्द-गिर्द वर्तमान में और सुदूर भविष्य में पूरे समाज पर प्र डालने वाली अनेक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया करता है। एक-एक शब्द का, [illegible] एक क्रिया का अपना महत्व है। उस महत्व को पहचाने, वर्तमान व भविष्य संभावित प्रतिक्रियाओं को यथासमय समझें, फिर कदम उठाएं, तो यह एक शिरि व्यक्तित्व का आचरण हुआ। टिकट की खिड़की पर आप क्यू में खड़े हैं, विनोद ही सही, पर आगे धक्का आपने दिया तो जो धक्के की लहर चलेगी और असहिष् लोगों की जो हाथा-पाई होगी उसे फिर रोकना आपके वश में नहीं रहेगा। उचि तो यही है कि मनोभावों पर हम नियंत्रण रखें तथा न स्वयं धक्का दें और न दूसर के लिए धक्के को आगे तरगीम करें। विचारवान व्यक्ति ऐसा कभी नहीं करेगा और जहां विचारवान शिक्षक एवं विचारवान विद्यार्थी होंगे वहां स्वप्न में एक बार भी विद्याध्ययन में बाधा उत्पन्न नहीं हो सकेगी।

लेकिन यह सब थोड़ा कष्टदायक है। दूसरों के सुख के लिए कष्ट उठाए तो हमें भी सुख मिलेगा। दूसरों के विवेकवान होने तक हम विवेकहीन बने रहें तो विवेक हमारे किसी के भी द्वार पर कभी नहीं आएगा। शांति, सद्भाव और सहयोग हमें वहीं से प्रारंभ कर देना होगा जहां हम अभी खड़े हैं। पूरे परिप्रेक्ष्य में देखिए, एक अंश देखने से काम नहीं चलेगा। सबको मिलकर एक मंजिल पूरी करनी है। मुसाफिर उधर-उधर कर मनमाने ढंग से प्लेटफार्म पर घूमते रहेंगे और जनतंत्र की जय बोलकर गार्ड या ड्राइवर को अपना कार्य नहीं करने देंगे तो शिक्षा की गाड़ी अपनी मंजिल की ओर चल ही नहीं पाएगी।

अन्य देशों ने जो किया, लोग उसमें कोई क्रांति का बीज ढूंढते हैं या किसी 'पेटर्न' की तलाश करते हैं तो किया करें। हम अपने भविष्य को उनके फार्मूलों में ठूंसकर अपना उद्धार कभी नहीं कर सकेंगे। खिड़कियां हमने खुली रखी हैं तो अच्छी-बुरी सभी हवाएं आएंगी। आजू-बाजू में, आगे-पीछे में, कई धक्के लगेंगे, किंतु अपनी परिस्थितियों को देखकर हमें निर्णय लेना है। हमें क्या अनुकूल प्रतीत होता है यह निर्णय लेने को भी क्या हम 'स्वतंत्र' नहीं हैं?

प्रसिद्ध शिक्षक, शिक्षाविद् और मौलिक लेखक प्रो० एडगर डेल ठीक ही पूछा करते थे—तुम्हारा इंचार्ज कौन है? हमें यदि जनतंत्र को सफल बनाना है तो हमें भी बार-बार पूछना ही होगा—हमारा इंचार्ज कौन है? हमारा चालक कौन है? वस्तुतः अच्छे विद्यार्थी और अच्छे शिक्षक होने की पहली शर्त ही यह है कि हमारे चालक हम स्वयं हों और हमें जो काम समूह ने, समाज ने, या राष्ट्र ने सौंपा है वह हमें निर्विघ्न रूप से करने दिया जाए। काम करने वाले का यह अधिकार है, काम सौंपने वाले का यह उत्तरदायित्व है। और जनतंत्र पद्धति में विश्वास रखने वाले हर जिम्मेदार विद्यार्थी, शिक्षक व आम नागरिक का कर्तव्य है कि जनतंत्र के सही स्वरूप की रक्षा का प्रयत्न जारी रखे और आतंक के बजाय सहकार के माध्यम को सर्वोपरि स्थान दे। विश्व को विनाश से बचाना है तो जनतंत्र की रक्षा के अलावा और कोई उपाय नहीं। स्वार्थ केवल दूसरे छोड़ें, इसमें हम एकतंत्र के हाथ ही मजबूत करते रहेंगे और तब जो टूटी-फूटी शिक्षा-प्रणाली आज हमारे हाथ में है वह भी शेष नहीं रहेगी।

पुस्तक मेले और शिक्षा-प्रसार

पिछले कुछ वर्षों से देश में कई बड़े शहरों में राष्ट्रीय पुस्तक मेले और विश्व पुस्तक मेले आयोजित होने लगे हैं। बम्बई का राष्ट्रीय पुस्तक मेला और दिल्ली का विश्व पुस्तक मेला देखने का मुझे अवसर मिला है। इन पुस्तक मेलों से कई नयी पुस्तकों की सूचना मिलती है और दूर-दूर के स्थानों के लेखकों, प्रकाशकों और कलापूर्ण मुद्रण-कार्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बढ़ता है।

इन पुस्तक मेलों से जो हमें लाभ प्राप्त हुए हैं उन्हें देखते हुए विचार आता है कि क्या हमारे राज्यों में जिला-स्तरों पर और उससे भी आगे शहरों और गांवों में क्या हम कभी पुस्तक मेले लगा सकेंगे? इन पुस्तक मेलों से समाज के कई वर्गों को कई प्रकार से लाभ होता है। प्रकाशनों का स्तर उठता है, लेखकों को नये लेखन की प्रेरणा मिलती है और विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को महत्वपूर्ण नये प्रकाशनों की सूचना मिलती है तथा प्रसिद्ध और अनुपलब्ध पुराने प्रकाशनों के बारे में भी ज्ञान बढ़ता है।

विकसित नही हुआ है कि नयी-नयी पुस्तको और पुराने ग्रन्थो के नाना पहलुओ को रोचक रूप से पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा सके। फिर भी जो कुछ हो रहा है वह बहुत उपयोगी है और उससे पुस्तको मे पाठको की रुचि जागृत करने में काफी मदद मिलती है। पुस्तक-समीक्षा हो या प्रकाशको के विज्ञापन हो, पाठको को जितना सन्तोष पुस्तक देखकर होता है उतना मात्र सूची देखकर या समीक्षा पढकर नही हो सकता। यदि हम शहरो और गावो तक पुस्तक मेलो को ले जा सकेंगे तो न केवल अध्यापकों और शिक्षा अधिकारियो की कठिनाइयो को ही दूर कर सकेंगे बल्कि विद्यार्थियो और उनके अभिभावकों तथा सामान्य जन को भी पुस्तकों के पठन की ओर ज्यादा प्रभावशाली रूप मे आकर्षित कर सकेंगे।

देश के सभी राज्यो की सरकारो को, शिक्षा विभागो को और साहित्य अकादमियो तथा प्रकाशको को मिलकर इस दिशा मे जरूर विचार करना चाहिए।

हमें यह याद रखना चाहिए कि शिक्षा केवल कक्षा मे अध्यापक के भाषण से ही सम्पन्न नही होती है। हमे यह भी याद रखना चाहिए कि शिक्षा की प्रक्रिया विद्यालय या महाविद्यालय की दीवारों तक ही सीमित नहीं हुआ करती। हमने यह स्वीकार कर लिया है कि शिक्षा जीवन भर अनवरत रूप से चल सकती है, चलनी चाहिए। इसी को दृष्टि मे रखकर राष्ट्रीय प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ है और अनौपचारिक शिक्षा के केन्द्र भी अनेक स्थानो पर चलाए जा रहे हैं। लेकिन पुस्तक अपने आप मे अनौपचारिक शिक्षा का एक बहुत ही महत्वपूर्ण उपादान है। पुस्तक मेलो से न केवल विद्यालयो और महाविद्यालयों के अध्यापकों या विद्यार्थियो का ही लाभ होगा बल्कि समाज शिक्षा का भी एक बहुत बड़ा कार्य इससे सम्पन्न होगा। पुस्तक मेलो मे जूते गाठने वाले भी आएगे, किसान भी आएगे, गृहणियां भी आएंगी और होटलो मे काम करने वाले बच्चे भी आएगे। जो भी आएगे अपनी रुचि की पुस्तक देखेंगे, खरीदकर पढने को उत्सुक होंगे और नयी रुचियो की प्रेरणा भी लेकर जाएंगे।

इन सबसे अलग एक और वर्ग है जिसको राष्ट्रीय मेलो से या विश्व-पुस्तक मेलो से अभी कोई लाभ नही पहुच रहा है वे हैं हमारे सार्वजनिक पुस्तकालय। सार्वजनिक पुस्तकालय स्वयं अपने आप में अनौपचारिक शिक्षा-केन्द्र हुआ करते हैं। वे सारे समाज के लिए सूचना और प्रेरणा के स्रोत होते है। इन पुस्तकालयो को नयी पुस्तको की सूचना ये पुस्तक मेले जितने प्रभावशाली तरीके से दे सकते है उतना और कोई नहीं दे सकता है। पुस्तक मेलों को शहरो और गावो तक ले जाने का प्रबन्ध हो तो इन सार्वजनिक पुस्तकालयों के सचालक भी बहुत थोड़े समय मे अच्छी पुस्तको की प्रत्यक्ष सूचना प्राप्त कर सकेंगे। यदि हम इन पुस्तक मेलो को शिक्षा प्रसार का महत्वपूर्ण अग मानते हैं तो हमे इनके आयोजन के लिए राज्य सरकारो और शिक्षा विभागो को प्रेरित करना चाहिए कि वे इनके आयोजन

मे सक्रिय रूप से भाग लें और इनके जरिए शैक्षिक उन्नति का नया मार्ग प्रशस्त करें। जब पुस्तक मेले आयोजित होने लगेंगे तो प्रकाशकों को और शिक्षको को ज्ञात होगा कि शिक्षा का कितना कम साहित्य प्रकाशित हुआ है और हमारे शिक्षकों के लिए कैसे ग्रन्थ प्रकाशित करना ज्यादा लाभकारी रहेगा। अब स्थिति यह है कि हमारे अनेक विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों और अध्यापकों को नेशनल बुक ट्रस्ट, चिल्ड्रेन बुकट्रस्ट और अन्य कई प्रकाशको द्वारा प्रकाशित उच्चकोटि के बाल-साहित्य की कोई सूचना ही नही है। पिछले कुछ वर्षों में देश में बहुत अच्छी बालोपयोगी और किशोरोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुई है। कई नये लेखक सामने आए हैं, कई अच्छे कलाकार आकर्षक ढंग से बाल-साहित्य के चित्र बनाने लगे हैं और मुद्रण के विकास के साथ बहुरंगी मुद्रण सुन्दर ढंग से होने लग गए हैं। लेकिन हमारे नन्हे पाठको को इसका उतना लाभ नही पहुचा है जितना पहुंचना चाहिए था। जब तक अध्यापकों को सूचना नही होगी और वे अपने विद्यार्थियो तक नये बाल-साहित्य ले जाने को उत्प्रेरित नही होंगे तब तक हमारे नये प्रकाशनों का प्रसार भी नही हो सकेगा। जब हम राज्यों मे स्थान-स्थान पर पुस्तक मेले आयोजित करने लगेंगे तब सुन्दर पुस्तकें, उपयोगी पुस्तकें और प्रेरक पुस्तकें अधिक संख्या मे क्रय की जाया करेंगी।

उम्मीद तो रखते हैं, मगर...

मां-बाप की जिम्मेदारी बड़ी है। बालक बड़ा होकर अपने पैरों पर खड़ा न हो जाए, तब तक मां-बाप को चौबीसों घंटे अपने बच्चों की चिन्ता बनी रहती है। चिन्ता बाद में भी हो सकती है, किन्तु उसका भार काफी कम हो जाता है। जन्म से कैशोर्य तक और कुछ उसके बाद तक बालक की सुरक्षा और उसके विकास का संपूर्ण दायित्व मां-बाप पर होता है।

मां-बाप अपने इस दायित्व को जानते हैं और इसके वहन का अपनी समझ से काफी प्रयत्न भी करते हैं, किंतु गड़बड़ी हुए बिना नहीं रहती। लगभग सभी मां-बाप अपने बच्चों के स्वभाव व विकास से प्रायः असन्तुष्ट नजर आते हैं। क्या कारण है इसका?

अपने-अपने अनुभवों का विश्लेषण करें तो शायद कुछ कारण स्पष्ट हो भी सकते हैं। बालक का भला चाहते हुए भी हम कुछ गलतियां कर ही जाते हैं। अनुभवों के विश्लेषण से ही अभिभावक अपनी गलतियां भी देख सकते हैं। क्या छोटा है और क्या बड़ा, यह भेद करना भी मुश्किल है। यह भेद स्पष्ट न हो तो छोटी गलती पर अधिक ध्यान और बड़ी गलती पर कम ध्यान की कठिनाई भी सामने आएगी। लेकिन पारिवारिक जीवन इतना उलझा हुआ होता है कि मां-बाप शायद अपने अनुभवों का कोई उचित विश्लेषण करने को समय ही न निकाल पाते हों। समय निकल पाए और प्रयत्न भी किया जाए तो दृष्टि कौन देगा?

दृष्टि कहीं अन्यत्र मिलती हो, ऐसी भी बात नहीं है। समस्याओं को उलट-पलट कर रोशनी में लाने का प्रयत्न करें तो उचित दृष्टि भी मिल सकती है। समस्याओं का अध्ययन कर जो देखा-समझा जा सकता है, वह यह है कि हमारे बच्चे विद्यालय जाने के योग्य होने से पहले हमारे पास घर पर ही रहते हैं। विद्यालय जाने वाले बच्चे भी कुल समय का अधिकांश भाग मां-बाप के संपर्क में ही व्यतीत करते हैं। अतएव शिक्षक से भी अधिक जिम्मेदारी हमारी है। शिक्षक

प्रवृत्तियों की रोक-टोक तो हम करते हैं किन्तु हमारी अपनी अपेक्षाओं पर रोक-टोक कौन करेगा ? वह तो हमें ही करनी होगी, बशर्ते कि हम इस विषय में जागरूक हो जाएं।

प्रायः देखा गया है कि हमारी अनेक अपेक्षाएं या तो अनावश्यक होती हैं या असमय व्यक्त होती हैं। थोड़ी सी गहराई में विचार करें तो ज्ञात होगा कि कोई भी व्यक्ति सर्वगुणसम्पन्न बन जाए, यह कम संभव है। कोई हो भी जाए तो सभी तो बन ही नहीं सकते हैं। फिर बालक स्वतः भी कुछ सीखने के अवसर चाहता है। स्वतः सीखा हुआ अधिक स्थायी व गौरवमय होता है। हम न भी कहें तो भी बालक अनुकरण से बहुत सीखता है। सौ बार कहने के बजाय एक बार कहें तो भी दबाव में कमी आ सकती है। दबाव में कमी लाएं तो यह भी संभव है कि आत्म-विश्वास बढ़ जाए और बालक स्वतः ही अपने लिए आवश्यक गुणों को ग्रहण करना स्वयं प्रारम्भ कर दे।

न परीक्षा हो न प्रश्न, मत पूछिए क्यों ?

शिक्षा-जगत मे परीक्षाओ के बारे मे एक विश्वव्यापी विचार-प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। इस प्रक्रिया को प्रारम्भ हुए तो करीब एक दशक से अधिक ही हुआ है, किन्तु भारत मे इसने पिछले पांच-सात वर्षों मे अधिक जोर पकड़ा है। आज यह विचार-प्रक्रिया किस सीमा तक पहुंच गई है, यह ज्ञात करने के लिए आंध्रप्रदेश की ओर नजर डाल लेना ही काफी होगा। वहां अब सातवीं के बाद दसवीं की ही परीक्षा देनी पड़ेगी। दसवीं तक पहुंचने मे भी फेल होने का भय समाप्त कर दिया गया है।

आंध्रप्रदेश के छात्रों मे शायद इससे हर्ष की लहर दौड़ गई होगी! शायद इससे शिक्षा के संयोजकों-प्रबंधकों की परेशानी भी समाप्त हो जाए। न कोई समस्या, न समाधान की चिन्ता!

पर, क्या बात इतनी आसान है?

जी नहीं। छोटा हो या बड़ा, हर काम के लिए प्रयास और अनुभव की जरूरत है। परीक्षा इसी प्रयास और अनुभव का पैमाना है, आईना है।

छात्र की मेहनत का क्या परिणाम निकल रहा है, इसका माप-तौल ही तो परीक्षा का प्रमुख लक्ष्य है। लेकिन माप-तौल का कार्य स्वयं मे कोई लक्ष्य हो, यह कम लोग ही स्वीकार करेंगे। आप शिक्षा को साध्य समझते हैं या परीक्षा को? निश्चित ही परीक्षा साध्य नहीं, साधन है। सम्पूर्ण दृष्टि साधन पर केंद्रित हो जाती है तो साध्य दृष्टि से ओझल हो जाता है। आज यही हो रहा है। जो भी शिक्षा में सुधार की बात करते हैं, वे परीक्षा-प्रणाली की आलोचना करने लगते हैं और उसमे सुधार की योजनाएं बनाना शुरू कर देते हैं।

सुधार की धुआंधार आंधी केंद्र से भी आती है, जहां शिक्षा में सुधार की कोई समन्वित सम्यक् दृष्टि अभी निर्मित नहीं हो पाई है। राज्यों मे भी जो परीक्षा-सुधार कार्यक्रम लागू हुए या हो रहे हैं उनसे भी यही ध्वनित होता है कि शिक्षा-सुधार का इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं। लोग शिक्षा के असली मकसद को

भूल जाते हैं और मात्र परीक्षा-प्रणाली पर प्रयोग करते रहते हैं।

राजस्थान ने व्यापक रूप से बड़े-बड़े प्रश्न-पत्रों की आन्तरिक जांच-प्रणाली प्रारम्भ कर दी है। ऊपर से यह उद्देश्यपरक और उपयोगी प्रतीत हो सकती है, किन्तु व्यवहार में यह अनावश्यक एवं अनुपयोगी है। कदम-कदम पर जांच हो रही है, एक-एक पहलू पर शिक्षक की राय आंतरिक जांच-पत्र में लिखी जा रही है, वार्षिक परीक्षा में पाठ्यक्रम के अनेक अंशों पर प्रश्न पूछे जा रहे हैं। लगता है, छात्र के आचरण, रुचि और विषय-ज्ञान का अंग-अंग तौला जा रहा है।

आंध्रप्रदेश ने परीक्षाओं का प्रायः नामोनिशान मिटा दिया है। सातवीं तक कोई परीक्षा नहीं, सभी उत्तीर्ण। सातवीं के बाद दसवीं या हायर सैकेंडरी तक फिर कोई परीक्षा नहीं, सभी उत्तीर्ण। आंध्रप्रदेश के शिक्षा-निदेशक ने स्पष्टीकरण दिया कि परीक्षा भले न हो, प्रतिमास जांच अवश्य होती रहेगी और तीनों 'टर्म' की परीक्षाएं भी होंगी। किन्तु किसी को कहीं रुकना नहीं है तो इन जांच-परीक्षाओं को कोई क्यों गम्भीरता से लेगा, क्यों तैयारी करेगा ?

एक राज्य पग-पग पर परीक्षा का विस्तृत कार्यक्रम बनाता है तो दूसरा परीक्षा नाम के भूत को ही समाप्त कर देता है। वस्तुतः न परीक्षा भूत है और न पग-पग पर परख वाला आयोजन। मूल में ही भूल है।

एक भूल और है—परीक्षा के परिणाम को प्रतिशत के मापदंड से परखना। इंग्लैण्ड-अमरीका में यह भूल हुई है, हमारे देश में भी हो रही है। अमुक प्रतिशत न रहे तो बोर्ड या विश्वविद्यालय का स्तर ही क्या रहा ! उत्तीर्ण होने वालों का प्रतिशत कम रखकर स्तर को बढ़ाओ या अधिक प्रतिशत रखकर अधिक को आगे आने का मौका दो। इन दो दृष्टियों का प्रभाव प्रश्न-पत्रों के प्रकार में प्रतिबिम्बित होता है। न्यू-टाइप प्रश्न या लघु-उत्तरात्मक प्रश्नों के पीछे मनोभावना यही है कि फेल होने वालों में से कई और लोग पास हो सकें। दूसरी ओर, छांट-छांट कर कठिन प्रश्न दे दो तो आप ही कम योग्यता वाले छंट जाएंगे और उच्च कक्षाओं में मेधावी छात्र आ सकेंगे। कठिन प्रश्न देने वालों की दृष्टि यही होती है कि उच्च कक्षाओं पर होने वाला व्यय योग्य छात्रों के आगे आने से ही सार्थक हो सकता है।

अब समस्या यह है कि परीक्षा के प्रयोजन का शिक्षा के प्रयोजन से कैसे सामंजस्य हो ? जब हमने यह मान लिया कि विद्यार्थी को कुछ विषयों में पारंगत करना है और उसमें विविध विषयों के विविध पहलुओं पर राय बनाने की क्षमता उत्पन्न करनी है तो जो भी विधियां-प्रविधियां इसमें सहायक हों, उनका सहारा लेना ही होगा। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि 'प्रश्न' से बड़ा और कोई उत्प्रेरक तत्व आज तक सामने नहीं आया है। व्याख्यान, स्वाध्याय और अभ्यास इन तीनों में विद्यार्थी प्रश्नों से ही उत्प्रेरित होता है, आगे बढ़ता है। प्रश्नों से आदमी चेतन होता

है। सुकरात के प्रश्न ही आज तक उसे अमर बनाए हुए हैं।

प्रश्न दो तरह के होते हैं। निर्णायक प्रश्न और मात्र उत्प्रेरक प्रश्न। उत्प्रेरक प्रश्न हर अच्छे शिक्षक, व्याख्याता या प्राध्यापक के व्याख्यान के आवश्यक अंग होते हैं। प्रश्न चिन्तन के लिए विवश करते हैं, स्मरण-शक्ति को जगाते हैं, क्रियाशील बनाते हैं। प्रश्न विचारों को व्यवस्थित करते हैं। दो पृष्ठ का पाठ और दस पृष्ठ के प्रश्न, आज की पाठ्यपुस्तकों में इसी विशेषता पर बल दिया जा रहा है। गणित की पूरी पुस्तक ही प्रश्नावली की पुस्तक होती है। अभिक्रमित अध्ययन-प्रणाली में प्रश्नों को क्रम से रखना ही प्रमुख ध्येय होता है। और हर प्रश्न का पहला उद्देश्य विद्यार्थी को यही 'शॉक' (झटका) देना होता है कि 'तुम नहीं जानते'। सुकरात प्रश्नों से ही स्थापित कर देता था कि उसके शिष्य जो जानते हैं वह अज्ञात है, अर्थात जानना अभी बाकी है। 'नहीं जानने' के भाव की प्रतीति उसे जानने के प्रयास हेतु प्रेरित करती है। 'नहीं जानने' और 'जानने' का अन्तराल अधिक हो या कम, यह पाठ्य-बिंदु परिस्थिति और शिक्षक की दृष्टि पर निर्भर है। ईश्वर क्या है, इस प्रश्न का उत्तर क्या हम कभी दे पाए हैं? लेकिन उत्तर के प्रयासों में कब शिथिलता आयी है?

जो भी हो, यह सही है कि प्रश्न हमें यह बताते हैं कि हम कहां हैं और यह प्रेरणा देते हैं कि हम आगे बढ़ें।

कक्षा में पाठ्यपुस्तकों में या टीचिंग-मशीन पर पूछे गए प्रश्न ज्ञान का विश्वास उत्पन्न करने और अज्ञान को ज्ञान बनाने की चुनौती या आवश्यकता उपस्थित करते हैं। लेकिन वे निर्णायक नहीं हैं, इस कारण चुनौती की मात्रा कम होती है। आलस्य, उदासीनता एवं उपेक्षा का प्रवेश सहज ही सम्भव है। जो प्रश्न निर्णायक होते हैं, उनके सामने आलस्य, उदासीनता और उपेक्षा नहीं टिक सकते। उत्तीर्ण होना है तो इनका त्याग करना ही होगा, अन्यथा अनुत्तीर्ण होना ही होगा। अनुत्तीर्ण न होने की कामना भीतर की एक बहुत बड़ी चुनौती है। बाहर यह नौक-रियों से जुड़ गई है, इस कारण अब यह भीतरी कम और बाहरी चुनौती अधिक है। लेकिन चुनौती है और उत्प्रेरित करने की एक बहुत बड़ी शक्ति भी रखती है।

अब इस शक्ति को समझिए। 'इंटरव्यू' में हम जाते हैं। दो मिनट की बातचीत होती है। दो-चार प्रश्न इधर-उधर के और हम पार या उस पार। पद्धति गलत नहीं है। दो मिनट के 'इंटरव्यू' से प्रभावित-प्रेरित हो प्रत्याशी कितना श्रम करता है, कितना क्रियाशील होता है और स्मरण-शक्ति तथा व्यक्तित्व-निर्माण के कितने नुस्खे आजमाता है! कौन जाने क्या पूछ लें, क्या देखकर निर्णय कर लें! हैडारों का ढेर असीम है।

ठीक वैसे ही मासिक, षैमासिक, अर्द्ध वार्षिक या वार्षिक परीक्षा में पूछिए

कुछ भी, वह तैयारी पूरी करता है, क्योंकि जो उसने छोड़ा है वही पूछ लिया, गया साल हाथ से। आप दो सवाल पूछकर छोड़ दीजिए या दस पूछिए, उद्दे यही है कि वह तैयारी करे, मनोयोग से करे और अज्ञान-रूपी जिस दुश्मन आकार-प्रकार को पाठ्यक्रम के माध्यम से हमने उसके सामने खड़ा किया है, उस लड़ने की तैयारी करके आए। कुछ भी पूछा जा सकता है, कुछ निश्चित नहीं, प्रतीति उसको होगी तो वह पूरी तैयारी करेगा। परीक्षा में जो भी प्रश्न होंगे निर्णायक होंगे। ये आयास, अभ्यास और अनुभव की प्रवृत्ति को गतिशील करने के सांकेतिक उपकरण हैं, शैक्षिक प्रक्रिया के सबसे बड़े उत्प्रेरक हैं। परीक्षा उत्प्रेरक तो है पर खाली जाच नहीं है, इसलिए अंतिम है और निर्णायक है।

अनुत्तीर्ण होना बुरा है तो विद्यार्थी से कहिए कि विद्याध्ययन को जीवन में प्राथमिकता दे। उसे उत्तीर्ण होने में मदद देने के लिए परीक्षाओं की अवधि और प्रश्नों के प्रकार क्यों बदलते हैं? ऐसा करना सरासर गलत है और सुधार की घोषणाएं करना तो और भी अधिक दोषपूर्ण और खतरनाक है। वस्तुतः जो ईमानदारी से अध्ययन करता है, उसके लिए परीक्षा का सूई भर भी महत्व नहीं है। उसके लिए चुनौती परीक्षा नहीं, अज्ञान है। वह परीक्षा से नहीं, जिज्ञासा और कुतूहल से उत्प्रेरित होता है। उसके लिए सभी प्रश्न खेल हैं, उसके लिए प्रश्न भय नहीं, आनन्द के स्रोत होते हैं।

आप किसकी मदद के लिए परीक्षाओं को प्राथमिकता देकर समय, शक्ति तथा धन का अपव्यय कर रहे हैं? और तीन-तीन और सात-सात साल तक परीक्षा का अंतिम एवं निर्णायक उत्प्रेरक हटा देंगे तो औसत विद्यार्थी किसके बल आगे बढ़ेगा?

चिकित्सा-तंत्र में नयी शिक्षा की जरूरत

पिताजी चिकित्सक के पास पहुचते है तो उनके चेहरे पर सूजन देखकर चिकित्सक जी कहते है, 'पण्डितजी ! आपने फिर से सब्जी खानी शुरू करदी ?' दो-तीन दिन बाद पिताजी फिर जब चिकित्सक के यहा पहुचते है तो फिर वे कहते हैं, 'पण्डितजी, आपने रोटी चुपड़ कर खाना शुरू कर दिया ?'

पिताजी ने न नमक खाया था और न घी, किन्तु वे दोनो समय में कोई जवाब नही दे सके, क्योकि एक तो, उन्हे पूरा निश्चित ज्ञान होते हुए भी चिकित्सक के सुझावात्मक आक्रमण से यही सदेह होने लगा कि 'कौन जाने जो दलिया खाया था उसमे ही तो कुछ नमक नही गिरा दिया बहू ने ?' और 'घी तो रोटी बिना चुपडी किन्तु शायद एकाध रोटी चुपडी ही बीच मे कोई हो तो क्या पता ?' दूसरे, चिकित्सक को हा या ना किसी मे भी उत्तर न दे—मुसकरा देने से चिकित्सक समझेगा कि उसकी जीत हुई, उसने रहस्य जान लिया और मन के भीतर-ही-भीतर सर्वज्ञ होने की अनुभूति से वह प्रसन्न होगा। रोगी पर चिकित्सक की यह विजय उसमे आत्मविश्वास की वृद्धि करेगी और वह मन लगाकर विशेष कनिष्ठता से आगे का इलाज करेगा।

लेकिन मर्ज बढ़ता ही गया ज्यो-ज्यो दवा की। पिताजी के चेहरे पर भी सूजन है और पावो पर भी सूजन है। कभी कम होती है कभी ज्यादा होती है। पर चिकित्सक के रहस्यपूर्ण परिहास से पिताजी प्रसन्न है और नमक नहीं लेते, घी नही लेते।

मेरे भी चेहरे पर सूजन है। हाथो की अंगुलियो के बीच, हथेली पर, कलाई पर, कन्धे पर, पेट व पीठ पर भी सूजन आती है, जाती है। रक्तचापरोध हुआ, कार्टिसोन ली। रक्तचापरोध ठीक हुआ तो पानी से जलन, त्वचा में दरार हुई। एण्टीबायोटिक ली। डाक्टर ने कहा, कार्टिसोन की प्रतिक्रिया है। एलर्जी की दवा देनी है आवश्यकीय। बेनाड्रिल की मात्रा ली। दूसरी दफा [illegible] हुई तो कार्टिसोन के साथ बेनाड्रिल की खुराक ली। [illegible]

जेनुसिन साई हुई नहीं थी तो गोवोगिड से लिया। कहते हैं वह भी जेनुसिन की तरह ही एण्टागिड है। सुबह क्रमानुसार होंठ सूज गए। मिनटों में एक तरफ होंठों की सूजन बैठी, तो घूमकर दूसरी तरफ के होंठों पर आ गई, नाक पर आ गई, नाक के ऊपर हुई, आंखों के ऊपर-नीचे हो गई। रान तक पीठ, पेट, कंधे, कलाई पर हो गई। इसीडल लिया कुछ रोज। बैठ गई। दवाई छोड़ी, फिर हो गई। फिर दवाई ली तो रुकी, छोड़ी तो फिर हो गई। अब दूसरे डाक्टर से बात की। उसने तीन दवाइयां एक साथ दीं—1. बेटनाटोन, 2. डाइलोसिन और 3. पोलरामिन (रेपटेब)। दो दवाई सुबह-शाम, एक दवाई तीन बार। हिसाब रखना ही मुश्किल हो गया। हर गोली के बीच 15-20 मिनट का अन्तराल देना था। दस रोज ली। दो-तीन रोज आराम रहा। फिर वही सूजन शुरू। पित्ती का सा प्रकार है इस सूजन का। पेशाब-पाखाना सब ठीक है। एक डाक्टरनी घर आई तो बेटनाटोन देखकर बोली कि इस दवाई से बचिए। दूसरा कोई भुक्त-भोगी मित्र आया तो बोला कि डाइलोसिन से बचिए। और चिकित्सा करने वाले डाक्टर कहते रहे कि दवाइयां तो कोई रीएक्ट करने वाली नहीं थी। आपने कुछ और तो नहीं लिया?

कैसे बचें, क्या करें? मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।

इलिच ने चिकित्सा संसार के इस पक्ष का बहुत विस्तार से अध्ययन किया है। पहले उन्होंने 'मैडिकल नेमेसिस' नाम की पुस्तक लिखी जो विश्वभर में चर्चित हुई। अब उन्होंने उसी का संवर्द्धित संस्करण 'पैंग्विन में 'लिमिट्स टु मेडिसिन' के नाम से प्रकाशित किया है जिसका उपशीर्षक है 'मेडिकल नेमेसिस : द एक्स-प्रोप्रियेशन आव् हेल्थ' (आयुर्विज्ञान का दैवीकोप : स्वास्थ्य का स्वत्वहरण)। प्राचीन यूनान में ऐसी मान्यता थी कि प्रकृति देवी उन पर कुपित होती है और दण्ड देती है जो प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर खुद ईश्वर के समकक्ष शक्तिशाली बनने की गुस्ताखी करते हैं। इलिच की राय है कि आज के आयुर्विज्ञानी समाज ने भी सामान्यजन के लिए जो मर्यादाएं बांध दी हैं उनका उल्लंघन करने की जो गुस्ताखी करता है उससे आयुर्विज्ञान की देवी कुपित होती है और उसे दण्ड देती है।

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, दोष तो सदा रोगी का ही होना है। चिकित्सक कभी भूल नहीं करता। वह सर्वशक्तिमान है। सर्वज्ञ है। उसने जो रास्ता बताया है उसका अनुसरण नहीं किया तो दण्ड मिलेगा, रोग बढ़ेगा या नया रो होगा। चिकित्सा विज्ञानियों ने एक ऐसी हवा पैदा कर दी है कि समाज का भ विनाश हो रहा हो, उन्होंने जो रास्ता बना दिया है, उसी पर चलो। उनके बना गये मार्ग का अनुसरण करने में ही समाज का कल्याण है। अन्यथा अकल्याण

ा की है

उतना वास्तव मे हित उन्होंने किया नहीं है। न वे ऐसा करने में समर्थ हैं। अपनी सामर्थ्य से बाहर उन्होंने जिम्मेवारियां ओढ़ी हैं। उन्हें अपनी सीमाएं पहचाननी चाहिए। समाज को यदि अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनी है तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की सीमाएं पहचानने के लिए जो अध्ययन इलिच ने किया है, और वैसा अध्ययन करने वाले अन्य लोगों की उन्होंने जो सूची दी है, उसका उपयोग करना चाहिए और समाज को उन थोथे, दम्भी, मिथ्याभिमानी, दीर्घसूत्री चिकित्सा विज्ञानियों के छल-प्रपंच और जाल से मुक्त रखना चाहिए जो अन्धाधुन्ध दवाइयों के नुस्खे लिखते हैं, दवाई निर्माताओं की धनवृद्धि में योगदान करते हैं, मनुष्य में खुद की रक्षा आप करने की जो क्षमताएं है उनकी वृद्धि नहीं होने देते, उन्हें दवा, दवाखाने और डाक्टर का दास बनाते हैं, और मनमाने ढंग से इस सारे शरीर के हर रोग का इलाज करने तथा शरीर की चीर-फाड़ करने को तैयार हो जाते हैं। कितनी ही बार ऐसी चीर-फाड़ होती है जो न होती तो भी शरीर स्वस्थ हो जाता। कितनी ही बार ऐसी औषधियां वैद्यों-डाक्टरों-हकीमों की हम फांकते हैं या पीते हैं या सुइयां खा-खाकर शरीर में पहुंचाते हैं जो न फांकते, न पीते, न लेते तो भी शरीर का कुछ बिगड़ने वाला नहीं था। लेकिन आधुनिक चिकित्सकों को इस पर विचार करने की फुरसत नहीं है, वे धन-धन करते रहते हैं, शरीर में अन्धाधुन्ध ऐसे-ऐसे विजातीय खनिज या द्रव्य पहुंचाते रहते हैं जो काम क्या साक्षात् जहर का काम करते हैं। इलिच का कहना है कि उनको यह सोचना चाहिए कि वे स्वास्थ्य के कितना नजदीक है और अस्वास्थ्यकारी काम कितने करते हैं। कम-से-कम उन्होंने क्रूर देवता का जो आसन ग्रहण कर लिया है उसे तो त्यागना ही होगा। खुद देखना होगा कि उनकी मर्यादाएं कितनी हैं और मनुष्य के स्वास्थ्य के प्रति उनका कौन सा व्यवहार उसके जीवन को चौपट कर देता है। प्रत्यक्ष में चिकित्सक का जो निदानात्मक निर्णय मनुष्य के सम्भावित रोग की घोषणा करके उसके रक्षक की भूमिका में कार्यरत प्रतीत होता है प्रकारांतर से वस्तुतः वही निर्णय मनुष्य को रोग विशेष में वर्गीकृत करके उसको बहिष्कृत, तिरस्कृत, अस्पृश्य, अनावश्यक जीव बनाकर छोड़ देता है।

अमेरिका में डाक्टरों की भूल से यदि किसी के शरीर या स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचता है तो उसे सरकार मुआवजा देती है। एक बार सर्वेक्षण हुआ तो पता हुआ कि [illegible] प्रतिशत मरीज मुआवजा योग्य हानि का शिकार हुए थे। लेकिन सब मरीज मुआवजा थोड़े ही मांगते हैं? मरण पर [illegible] में [illegible] किये और [illegible] जायें तो हानि का मुआवजा कोई-कोई लोग न्यायालयों के जरिए इन्श्योरेन्स [illegible] से प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन सभी थोड़े ही करते हैं? इन्श्योरेन्स कम्पनियों का [illegible] का फर्ज है कि [illegible] ठीक रखें, [illegible] पैदा न होने दें। स्वास्थ्य [illegible] [illegible] है कि डाक्टरों की भूल को [illegible] न रखें। [illegible] का [illegible] है।

शरीर की रक्षा, देख-भाल और चिकित्सा उतनी आसान नही है। लेकिन जिम्मेवारी तो जिम्मेवारी है। समाज के स्वास्थ्य पर यदि समाज के कर्ता-धर्ता ध्यान नहीं देंगे, सम्बन्धित व्यवसाय वाले ध्यान नही देंगे और, सबसे ऊपर, वे लोग ध्यान नहीं देंगे जिनके स्वास्थ्य पर इन सस्थाओं की लापरवाही का असर पड़ता है, तो उनके प्रबन्ध मे सुधार की सम्भावनाएं और भी दूर चली जायेंगी। इंगलैंड में होने वाली शव-परीक्षाओं के निष्कर्षों का एक सर्वेक्षण हुआ तो पता चला कि डाक्टरो ने मृत्यु के जो कारण बताये थे उनमे कई कारण गलत सिद्ध हुए। अर्थात् चिकित्सा सर्वथा गलत अनुमानो पर चल रही थी और लाभ पहुचाने की बजाय तथा उसे स्वतः कुदरती तरीके से स्वस्थ होने का अवसर या छूट देने की बजाय अपनी प्रणाली मे बांधकर उन्हें उल्टे हानि पहुचा रही थी, कायदे से। अस्पतालो में प्रवेश प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में 3 से 5 प्रतिशत वे व्यक्ति होते हैं जो चिकित्सकों द्वारा दी गई दवाओं के उल्टे असर से पीड़ित होते हैं। चिकित्सा विज्ञान मे इस दशा को क्लिनिकल आयट्रोजेनेसिस कहते हैं। चिकित्सक ही रोगी को चोट पहुचाता है, पीड़ा पहुचाता है।

आज के चिकित्सक और आज की चिकित्सा प्रणाली मिलकर एक ऐसे तन्त्र का निर्माण कर रहे हैं जो बीमारी की वृद्धि करता है, समाज में रुग्णता का भाव उत्पन्न करता है, दवाओं पर निर्भरता से उद्धार का भ्रांतिपूर्ण विश्वास पैदा करता है और एक प्रकार से समाज के स्वास्थ्य का स्वत्वहरण ही कर लेता है। इस तन्त्र से लड़ने का आह्वान करते हुए इलिच ने अनेक देशों के अनुसंधानों-अनुभवों का एक बृहद् तथ्यात्मक तर्कपूर्ण अध्ययन इस ग्रंथ में प्रस्तुत करके किया है। संक्षेप में उनके तर्क ये हैं —

—चिकित्सक स्वयं मनुष्य के स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हैं।

—कैसे हानि पहुचाते हैं यह जानने के लिए चिकित्सा विज्ञान का विरहस्यीकरण (डी-मिस्टिफिकेशन) होना चाहिए।

—जो जनता चिकित्सा संसार के सनही निदानों पर निर्भर रहती है वह ज्यादा खतरनाक है।

—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में जो विज्ञान का सर्वाधिकार बना है उसका जनता को लाभ मिलना चाहिए और चिकित्सकीय वृत्ति, व्यक्तिगत ज्ञान [illegible] [illegible] के अथवा कोई निर्णय करना प्राप्त कर ले-

(क्लिनिकल आयट्रोजेनेसिस), (ख) सामाजिक (सोशल आयट्रोजेनेसिस), सांस्कृतिक (कल्चरल आयट्रोजेनेसिस) ।

(क) चिकित्सक जितना इलाज करते है वह सब रोगी के निरोग हो सम्पूर्णतया प्रभावी नहीं होता है। कई इलाज बिल्कुल प्रभावहीन होते है इलाज स्वयं हानि पहुंचाते हैं। रोग सर्वथा अरक्षित रहता है। यह नैद (क्लिनिकल आयट्रोजेनेसिस) हानि है।

(ख) औषधियों का रोगी के शरीर पर सीधा असर होने के अलावा जिक संगठन पर सामाजिक राजनीतिक रूप में भी असर होता है। चि प्रणाली का एक पूरा तन्त्र नाना प्रकार की भ्रान्तियां व मिथ्या धारणाएं करके जनमानस भ्रमित करता है। जब हर पीड़ा, हर बीमारी अस्पताल होती है, घर में अस्वास्थ्य जन्म लेने की धारणा घर कर जाती है, जब अस्पताल मे और मृत्यु भी अस्पताल के सुपुर्द हो जाती है तब सोशल आय सिस काम करती है।

(ग) कल्चरल आयट्रोजेनेसिस यह है कि मनुष्य अपने यथार्थ को भो सामर्थ्य ही खो देते है। चिकित्सकों के बिछाये हुए मिथ्या विश्वासो, अन औपचारिकताओं व प्रक्रियाओं के जाल के कारण खुद पर से उनका नियन्त्र जाता है। शरीर की टूट-फूट, पीड़ा, स्वास्थ्य में गिरावट और मृत्यु—ये सब के भाग हैं, लेकिन नये तन्त्र में इनका सामना करने में हताशा का भाव रहा है। सुख या दुख दोनों में जीवन्तता की उपस्थिति कहां है? केवल सा ही जीवन नहीं है, श्वास-प्रश्वास में अल्ला या ओम का अर्थात ईश्वर सुनना भी जीवन है। हर समाज की अपनी-अपनी जीवन शैली होती है— की, पीड़ा की, मृत्यु की। इसमें भी सौन्दर्य होता है। चिकित्सा तंत्र इस को छीन रहा है। उसे वापस कैसे दिलायें? चिकित्सा प्रणाली में नयी कैसे लाए?

इन सबके लिए एक नई चेतना हमें चिकित्सा विज्ञान से म व्यक्तियों में जगानी है और समाज के अन्य लोगों में भी जगानी है। यदि मे हमारे भी रोगी और चिकित्सक, और सम्भावित रोगी और, निरोग व्य सोचें तो और भी अनेक तथ्य सामने आ सकते हैं। यह हमारे अनुसन्धान- सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा राजनैतिक नेताओं के लिए भी एक मार्गदर्शक है।

यह निबंध लेख जयपुर में 15-16 फरवरी 1981 को राजस्थान ... (राजस्थान ... ए-45 ... मार्ग, जयपुर द्वारा चिकित्सा पुनर्विचार के लिए आयोजित एक सेमिनार के अवसर पर लिखा गया था।

अतिवादी दृष्टि और नये मिथक

मां-बाप अपने बच्चों की शिक्षा में रुचि लेते हैं तो इसलिए कि उनमें समझ का विकास हो। वनस्थली विद्यापीठ को विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता प्रदान करते हुए गत सप्ताह प्रधानमन्त्री ने वनस्थली मे हुए एक समारोह मे कहा कि शिक्षा से महिलाओं में आत्मविश्वास बढेगा और वे आत्मनिर्भर बनेंगी। ये सब समझ के ही रूप हैं। समझ है तो आत्मविश्वास है। समझ है तो आत्मनिर्भर बनने की चेष्टा भी है। और समझ है तो आत्मनिर्भर बनने के नाम पर अहंकार और मिथ्याभिमान मे डूबने की बजाय समाज को सदैव सामने रखकर समाज के प्रति कृतज्ञता व कर्तव्य का भाव भी है।

संस्कृतियों का टकराव

मेरी इच्छा होती है कि मैं यहां संस्कृति की वह सूक्ति याद दिलाऊं जिसमें 'त्यजेदेक कुलस्यार्थे' आदि कहते हुए यह भाव व्यक्त किया गया है कि कुल के लिए व्यक्ति एक का (अर्थात अपना) त्याग करे, समाज के लिए कुल (परिवार) का या अपने गांव-शहर का त्याग करे और जहां दुनिया के हित का सवाल हो वहां सर्वस्व अर्पण करने को भी तैयार रहे। लेकिन आज हालत ऐसी हो गई है कि संस्कृत का उद्धरण देकर बात करो तो लोग कहने लगते हैं कि तुम हिन्दू संस्कृति लाद रहे हो और कुरान का उद्धरण देकर बात करो तो लोग कहेंगे कि तुम मुसलमानों की अनावश्यक तरफदारी कर रहे हो! मुसलमानों की तरफदारी के संशय में हम गांधीजी को खो चुके हैं। हिन्दू संस्कृति लादने का संशय दिल्ली के एक अंग्रेजी दैनिक मे पाठकों के पत्रों के कालम मे पढ़ा। उस पत्र मे यह संशय व्यक्त किया गया था कि विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दू संस्कृति से प्रभावित सामग्री ज्यादा होती है इसलिए मुसलमान लोग अपने बच्चों को विद्यालय भेजने की बजाय मदरसों में भेजते है। 'पत्रिका' में भी पिछले दिनों 'अपने ही घर में' स्तंभ के एक आलेख मे दुनिया भर के इस्लाम के अनुयायियों की संख्या (एक

अरब) की ओर ध्यान आकर्षित करके कहा गया था कि मुसलमानों की तादाद तो बढ़ी, किंतु तासीर नहीं बदली, उनमें सही तालीम का प्रसार नहीं हुआ।

लेखक ने यह सही कहा था कि मुसलमान तालीम से जुड़ें, 'सही तालीम' से जुड़ें, "तालीम से ही रोशनी मिलेगी और उसी से इस्लाम की खूबियां दुनिया तक पहुंचेंगी"; लेकिन यह कहकर सारी बात गड़बड़ कर दी कि, "जो चीज इस्लाम ने हराम बनाई है वह हराम है चाहे इसे सारी दुनिया जायज बता दे।" इस अतिवादी दृष्टि से ही कट्टरता फैलती है। अब यह कथन भले कितने ही सही संदर्भ में क्यों न कहा गया हो, कहा गया है इसलिए कट्टरता पैदा कर सकता है। ऐसा ही एक और कथन है उसी लेख में - "अगर किसी इस्लामी मुल्क में इस्लामी रूह से काम किए जाएं तो उसे 'मीडिया' द्वारा गलत ठहराया जाता है।" पाठक को जरूर जिज्ञासा होगी कि उसे बताया जाय कि कौन सा ऐसा देश है और कौन-सी इस्लामी रूह को गलत ठहराया जा रहा है? स्पष्ट है कि मुसलमानों के लिए 'सही तालीम' की तरफदारी करके भी इस लेख द्वारा उनकी संकीर्ण दृष्टि को, उनके तंग नजरिए को, हवा दी गई है। गुरुनानक और कबीर ने सभी धर्मों के लोगों को सभी धर्मों की श्रेष्ठताओं को ग्रहण करने का जो संदेश दिया था, एकता और प्रेम का जो पाठ पढ़ाया था, उसे इस प्रकार का नजरिया कैसे आगे बढ़ायेगा?

उदार दृष्टि की शिक्षा

महिला शिक्षा का विकास हो, मुसलमानों की शिक्षा का विकास हो, उर्दू-तमिल-फ्रेंच-रूसी-राजस्थानी आदि विविध भाषाओं की शिक्षा भी हो, लेकिन वह लिंग, धर्म या भाषा भेद को बढ़ाने की बजाय लोक कल्याण की समझ बढ़ाने वाली हो, यह बहुत जरूरी है। ज्ञान का भंडार बढ़े, सभी धर्मों, सभी श्रेष्ठ ग्रंथों, महापुरुषों, विचारधाराओं, तकनीकी और वैज्ञानिक उपलब्धियों की भी कुछ जानकारी हो तथा देश-विदेश के लोगों की प्राचीन व आधुनिक सभ्यता-संस्कृति का भी प्रत्येक नागरिक को परिचय होना चाहिए। स्कूल, कालेज व विश्वविद्यालयों में, प्रौढ़-शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों में, प्रवृत्तियों में, अभ्यासों में ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध सभी देश करते हैं, भारत भी करता है। अधिक-से-अधिक लड़कियों को, मुसलमानों को और अन्य धर्मावलम्बियों या भाषा-भाषियों को वही शिक्षा मिलनी चाहिए जो दूसरों को मिलती है। यदि हमारा पाठ्यक्रम सर्वांगं दृष्टि पैदा करता है तो उसे और अधिक उदार और व्यापक बनाया जा सकता है, लेकिन वहां भी इस्लामी रूह या हिन्दू आत्मा का प्रवेश हो सकता तो मुश्किल है। इसलिए कोठारी आयोग ने समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी पाठशाला प्रणाली अपनाने की सिफारिश की थी। बिना किसी भेद-भाव के सभी लोग अपने निकट

के पड़ोस में जो विद्यालय हो, उसी में शिक्षा प्राप्त करें तो सामाजिकता बेसी और उदार दृष्टि का विकास होता है। लेकिन कोठारी आयोग की सिफारिशें की पालना पूरी किये बगैर अब नये आयोग स्थापित कर दिये गये हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

नये आयोग के एक सदस्य हैं डॉ० अनिल सद्गोपाल। शिक्षा को, खास तौर से विज्ञान की शिक्षा को, गांव के साधनहीन नागरिक तक सरल से सरल और सस्ते से सस्ते माध्यम द्वारा पहुंचाने का उन्होंने अभूतपूर्व अभियान चला रखा है और इसमें उन्हें सफलता मिली है।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले का बनखेडी गांव उनकी प्रवृत्तियों का केंद्र है। केन्द्र सरकार उन्हें कई समितियों-संगोष्ठियों में बुलाती है लेकिन वे अपना काम छोड़कर इन समितियों में जाना समय की बर्बादी समझते हैं। इस बार वे काम छोड़कर राष्ट्रीय महत्व के आयोग की प्रतिष्ठा के लिए बैठक में भाग लेने गये। बैठक बंबई के किसी पांच सितारा होटल में हुई। उस बैठक में उन्हें यह देखकर हैरानी हुई कि कई सदस्यगण वहां परस्पर यही चर्चा करते रहे कि न्यूयार्क और पेरिस और दुनिया भर के अन्य पांच सितारा होटलों के व्यंजनों में इतनी एकरूपता कैसे रहती है? दिल्ली के आलीशान भवन के वातानुकूलित व इलेक्ट्रानिक साज सज्जा से युक्त हाल में बैठक हुई तो एक वक्ता ने जोरदार शब्दों में वकालत की कि देश में आधुनिकतम संचार साधनों (रंगीन दूरदर्शन, वीडियो, कम्प्यूटर आदि शैक्षिक उपकरण आदि) को प्राथमिकता देने की जरूरत है। अधिकांश लोगों ने हां में हां मिलाई। डॉ० सद्गोपाल ने हिम्मत बटोर कर पूछा कि क्या यह ज्यादा उचित नहीं होगा कि हम पहले ग्रामीण शालाओं के लिए कमरों की उपयुक्त व्यवस्था कर दें, उन्हें टाटपट्टी या अच्छे ब्लैकबोर्ड दे दें, कम से कम इतना तो करें कि ग्रामीण विद्यार्थियों के पीछे एक शिक्षक तो हो?

नक्कारखाने में तूती

रा भाषा के भेद पर बल देकर शिक्षा का प्रबन्ध करना भी ज्यादा लाभदायक नहीं है। घुड़सवारी सिखाना जहां जरूरी है, वहां महिलाओं को या पुरुषों को किसी को भी सिखाइए कोई हानि नहीं, वायुयान उड़ाने की जहां जरूरत है वहां पुरुषों को या महिलाओं को किसी को भी सिखाइए कोई आपत्ति नहीं, किन्तु जहां प्राथमिक विद्यालयों की जरूरतें ही पूरी नहीं हो रही है, राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को एक व्यापक अनुष्ठान का रूप देने का संकल्प भी स्पष्ट आकार नहीं धारण कर पा रहा है और प्राय: आधे से अधिक विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने से पहले ही स्कूल छोड़ने को बाध्य हो जाते हैं जिनके लिए अनौपचारिक शिक्षा का व्यय भी हम नहीं जुटा पा रहे है, ऐसे में घुड़सवारी और विमान चालन का अभ्यास कराने वाली महिला शिक्षा की प्राथमिकता क्या हो, यह भी एक विचारणीय विषय है।

विसंगतियों से हानि

प्राथमिकताओं में विसंगतियों से समाज की ही हानि होती है। कोठारी आयोग ने प्राथमिक शिक्षा, पड़ोसी पाठशाला, राष्ट्रीय विकास, महिला शिक्षा आदि सभी को दृष्टि में रखकर एक विशाल प्रतिवेदन केन्द्र सरकार को 17 साल पहले प्रस्तुत किया था। कोठारी आयोग की नब्बे प्रतिशत से अधिक सिफारिशों पर सत्रह साल बाद भी अमल नहीं हुआ। उसमें शिक्षा के व्यवसायीकरण के सुझाव भी थे, ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत शिक्षकों को आवासीय सुविधा देने के भी थे और आदिवासी इलाकों में कार्यरत शिक्षकों के बच्चों को शिक्षा की विशेष सुविधा के संबंध में भी अनेक सुझाव थे। और भी कई सुझाव थे, लेकिन कहते हैं पैसा नहीं, जबकि एशियाड में 15 दिन के जलसे के लिए कितना व्यय हुआ (एक हजार करोड़!) और शहरी सम्पन्न वर्ग को रंगीन दूरदर्शन दिखाने पर कितना व्यय होगा (पांच सौ करोड़!) यह आप अखबारों में पढ़ चुके हैं। डॉ० सद्गोपाल ने इसीलिए आयोग को कह दिया है कि पहले यह स्पष्ट किया जाय कि कोठारी प्रतिवेदन की सिफारिशों की सत्रह साल तक अवहेलना क्यों हुई है, अन्यथा आयोग बिना समय और सार्वजनिक पैसा बर्बाद किए एक पंक्ति की रपट लिख दे— "कोठारी आयोग की सिफारिशों पर पूर्णत: अमल किया जाए।"

ठीक कहते हैं डॉ० सद्गोपाल। सवाल भी सही है। सौ सवालों का एक सवाल है। लेकिन सरकार जब उनके आयोग को अपने काम में सहयोग के लिए नियुक्त करती है तो कितने ही सही होने के बावजूद ऐसे सवालों का क्या उत्तर होगा, यह डॉ० सद्गोपाल को पता है। इसलिए अब पीछे लौटने की बजाय उचित यही होगा कि वे ऐसा प्रयत्न करें कि आयोग अनावश्यक सूचना संग्रह कर मोटा ग्रंथ न लिखे, जमीन से जुड़ी समस्याओं पर ज्यादा बल दे, कोठारी आयोग के उप-

योगी बिंदुओं का पुनः उल्लेख मात्र करके नया बल प्रदान कर दे और इस बीच उनको व उनके जैसे अन्य शिक्षाविदों को जो नये अनुभव हुए हैं, उनका लाभ लेते हुए चाहें तो कुछ नयी सिफारिशें भी जोड़ दें।

प्रौढ़ शिक्षा की प्रगति

कोठारी आयोग की सिफारिशों की तरह ही कोठारी समिति (प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की समीक्षा-समिति) की सिफारिशो पर अमल करने की जरूरत पर पिछले दिनों कोटा मे हुए दसवें प्रौढ़ शिक्षा सम्मेलन मे विशेष बल दिया गया था। राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर की मासिक पत्रिका 'अनौपचारिका' के सितंबर 83 के अक मे इस कोठारी समिति की रपट के कुछ महत्वपूर्ण अंक विस्तार से प्रकाशित हुए हैं। प्रौढ़ शिक्षा निदेशक द्वारा दी गई सूचना के अनुसार राजस्थान मे 1981 में 5790 केन्द्र थे जिनमे महिलाओं के 991 केन्द्र थे, जबकि 1983 मे (मार्च के अंत तक) 8804 केन्द्र हैं जिनमें महिलाओ के 2051 केन्द्र हैं। लेकिन कोठारी समिति की रपट अभी वहीं है, जहां थी। विश्वास यही किया जा सकता है कि समिति के प्रतिवेदन की सिफारिशों पर सरकार बिना किसी बड़ी घोषणा के कुछ अमल जरूर करेगी क्योंकि देश के इतने बड़े भाग को अज्ञानांधकार में रखने से किसी भी सरकार को कोई लाभ नहीं है। सवाल वही प्राथमिकताओ का है। लेखक,पत्रकार, शिक्षक व समाजसेवी इस पक्ष को भूलें नही और प्रौढ़ शिक्षा क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं की तरह वे भी वयस्कों की शिक्षा के महत्व के विविध पहलुओ पर व्यापक विचार जारी रखें तो सरकार इस अनुष्ठान की गति तीव्र कर अपनी प्रतिष्ठा बढाने मे अवश्य रुचि लेगी।

अंधविश्वास

प्रौढ़ शिक्षा से उम्मीद की जाती है कि यह अंधविश्वास दूर करेगी और सामाजिक चेतना लायेगी, लेकिन बूंदी से प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिए प्रकाशित एक भित्ति-पत्र 'हेलो' में लोकरुचि के समाचारो की तर्ज पर यह समाचार प्रकाशित हुआ कि मालपुरा मे भगवान आदिनाथ के मंदिर में मूर्ति के दर्शन करने से प्रेतात्माएं छूटती हैं। उसी में यह सूचना और जोडी गई कि ऐसे प्रेतात्मा छुड़ाने वाले दो और स्थान हैं, मेंहदीपुर के बालाजी और पीर साहब की मजार, आवरा (म. प्र.)। अब बताइए, अंधविश्वास कैसे जायेगा?

महिला शिक्षा के लिए वनस्थली विद्यापीठ ने कम महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है, वहां की शिक्षा वास्तव में महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने वाली है और उनका आत्मविश्वास भी बढ़ाने वाली है। विमान चालक और घुड़सवारी का शिक्षण करने से बचने में भी कोई कठिनाई नहीं है। स्वर्गीय हीरालाल शास्त्री

भी समाज के व्यापक हित को जानते थे, बहुत स्पष्ट अभिव्यक्ति वाले विचारक थे, प्रेमनारायण माथुर भी शिक्षा क्षेत्र के अनुभवी मौलिक विचारक रहे हैं और अन्य प्रबंधक-प्रशासक भी देश की प्राथमिकताओं को जरूर जानते होंगे। इस गरीब देश में भूत-प्रेत का अंधविश्वास भी उतना ही महंगा पड़ता है जितना मजहबी रूढ़ों पर जोर देना या ऊंची टेक्नोलॉजी की मांग करना। पूरे समाज को ध्यान में रखना है तो हमें इन सबसे बचना होगा।

अनुरूप आचरण करना चाहिए।

अपना शिक्षण कार्य उनको पूरी तैयारी और निष्ठा से करना चाहिए।

कक्षाएं छोड़कर कभी भी इधर-उधर नहीं जाना चाहिए।

परीक्षाओं में पक्षपात न करें और यदि करें तो इसे बहुत बड़ा कदाचार (मिसकंडक्ट) माना जाए।

शिक्षक अपनी राजनीतिक स्वार्थसिद्धि के लिए विद्यार्थियों का उपयोग कदापि न करें।

विद्यार्थियों के साथ उनका व्यवहार निष्पक्ष और न्यायपूर्ण हो।

सलाह, संशोधन या अन्य किसी कार्य से यदि कोई उनसे मिलना चाहे तो मिल सके इसलिए उन्हे काम के समय उपलब्ध रहना चाहिए (अर्थात वे पूरे समय विद्यालय-महाविद्यालय-विश्वविद्यालय मे उपस्थित रहें)।

यदि वे अवकाश लेते हैं तो अतिरिक्त कक्षाएं लेकर उन्हें विद्यार्थियों को अपनी अनुपस्थिति से हुए घाटे को पूरा करना चाहिए।"

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या शिक्षकों में से अधिकांश शिक्षक इन दुर्गुणों से ग्रस्त हैं? और यदि हैं तो मौजूदा सेवा नियमों से क्या उन पर नियंत्रण संभव है? जो शिक्षक गुरु-रूप में वंद्य है, जो दुनिया को आचरण सिखाता है, उसके लिए भी क्या सेवा नियमों से भी ऊपर किसी अलग और विशेष आचार-संहिता की जरूरत है?

दाल में कंकड़

कंकड छोटा होने से उसकी पीडा कम होती है, यह हम नही कहते । हम यह भी नही कहते कि समस्या छोटी हो तो उसके निवारण का कोई उपाय नही किया जाए । निवारण का उपाय जरूर किया जाना चाहिए । कंकड पर जितना ध्यान दिया जाता है उससे भी ज्यादा ध्यान शिक्षक के आचरण मे सुधार पर दिया जाना चाहिए, क्योंकि कंकड से एक दांत को क्षति पहुंचती है जबकि शिक्षक के प्रमादी आचरण से पूरे समाज को हानि होती है और उसका प्रभाव पीढियों तक पडता है । दिल्ली की राष्ट्रीय संगोष्ठी मे सुझाये गये नौ बिन्दुओं मे से करीब-करीब सभी पर आम सहमति है । कुछ के बारे मे लोगो की राय थोडी भिन्न हो सकती है, कुछ बिन्दु नये भी सुझाये जा सकते है, लेकिन बुनियादी सवाल यह है कि इस आचरण संहिता की जरूरत क्यों पडी और यदि यह आचरण संहिता बन गई तो यह लागू कैसे होगी ? यदि यह लागू हो सकती है तो मौजूदा सेवा नियम लागू क्यों नही हो पा रहे हैं ? उनके जरिए शिक्षक को सही राह पर गतिमान रखने मे क्या कठिनाई है ?

नियम और आचरण

राजस्थान मे ट्यूशन पर पाबंदी के—या कहे कि नियमन के—आदेश निकले हुए है । आदेश इस बात के भी निकले हुए हैं कि सरकारी नौकर कोई दूसरा धंधा नही कर सकता । और सरकारी नौकर होने के नाते हर शिक्षक इन आदेशों को मानने व इनके अनुसार आचरण करने को बाध्य है । लेकिन क्या इनका पूरी तरह से पालन हो रहा है ? यदि नही हो रहा है तो क्यो नही हो रहा है ? यदि प्रशासको की शिथिलता है तो क्यों है ? क्या डाक्टरो की प्राइवेट प्रेक्टिस पर लगी पाबंदी सफल हो गई ? क्या उस पाबंदी से जरूरतमंद बीमारो को हानि नही हुई ? यदि डाक्टर समाज की सेवा करते हुए अपने परिवार की सेवा कर सकता है तो शिक्षक को भी अपना फुरसत का समय समाजसेवा के साथ परिवार सेवा मे लगाने की छूट देने मे हमे क्या आपत्ति है ?

शिक्षक का यथार्थ

सबसे बडी कठिनाई यह है कि शिक्षक के यथार्थ को शिक्षक बन कर कोई भी देखने को तैयार नहीं है । इसीलिए दिल्ली संगोष्ठी मे यह प्रस्ताव पारित हुआ कि प्राथमिक विद्यालय का शिक्षक हो चाहे उच्च माध्यमिक विद्यालय का, वेतन-मान उसकी योग्यता के अनुसार होना चाहिए । यदि प्राथमिक शिक्षक की कठिनाइयो का और प्राथमिक विद्यालय के विद्यार्थियो की आवश्यकताओ का अनुमान होता, अर्थात शिक्षक के यथार्थ को शिक्षक बनकर देखा होता तो प्राथमिक से विश्वविद्यालय तक एक ही वेतनमान की मांग करते और यह अपेक्षा करते कि

उच्च माध्यमिक ही नही विश्वविद्यालय के शिक्षक से भी यह अपेक्षा की
कि प्रति सप्ताह या प्रति माह उसे कुछ कालांश प्राथमिक कक्षाओं को देने होंगे
पांच वर्ष में दो वर्ष या एक वर्ष पूरे समय प्राथमिक कक्षा में पढ़ाना होगा।
रिक्त वेतनवृद्धियां दी जा सकती हैं, योग्यता बढ़ाने पर, और (जो उस
नजरअंदाज किया) एक निश्चित अवधि का अध्यापन अनुभव होने पर;
आजकल तो दो-तीन सौ रुपये माह पर एम०ए०बी-एड० नहीं तो बी०ए० बी-
मिल ही जाते हैं। फिर 'योग्यतानुसार' का क्या अर्थ हुआ ? और कोई पी-एच०डी०
शिक्षक प्राथमिक विद्यालय में संतोषपूर्वक पढ़ा ही नहीं सके ऐसा क्यों?
योग्यता होगी तो वास्तविक योग्यता होगी, जो डिग्री की उतनी नहीं जितनी
विक ज्ञान की, नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए सतत जिज्ञासा की, निष्ठापूर्वक
की, सहयोग सद्भाव और स्नेहपूर्ण व्यवहार की तथा अध्यापन अनुभव की होगी।

फुरसत का उपयोग

शिक्षक स्वयं सोचेगा कि उसे क्या करना है। वह समाज को आचरण सिखाने वाला है। संगोष्ठी द्वारा सुझाये गये कुछ बिन्दुओं पर पुनर्विचार होना चाहिए। शेष को सेवानियमों में सम्मिलित कर लेना ही काफी होगा। स्थानीय समस्या कोई हो तो सामान्य कर्मचारी के आचरण नियमों के अनुसार कार्रवाई की जा सकती है अन्यथा साधारणतया ट्यूशन और अंशकालीन कार्य पर प्रतिबंध लगाना उचित नहीं है। कोई शिक्षक संगीत सीखता है या सिखाता है तो वह उसका अतिरिक्त गुण बनता है, वैसे ही यदि वह गणित में पी-एच०डी० करता है या पांचवीं-दसवीं या बी०ए० को गणित पढ़ाता है तो भी वह अधिक निपुण बनता है, अधिक योग्य बनता है। यदि इसका उसके कार्य पर प्रभाव पड़ता है तो उसे प्रशासनिक अनुशासन में देखा जाना चाहिए और नियम आवश्यक हों तो नये नियम बनाये जाने चाहिए। किन्तु 'आचरण-संहिता' तो अनावश्यक है। ऐसे ही अतिरिक्त कक्षाएं लेकर कमी पूरी करने की अध्यापक अवश्य कोशिश करें, किन्तु [illegible] यदि एक अवधि विशेष की सजा के बाद कुछ अवकाश देते हैं तो उसके कारण शिक्षक को अवकाश न देकर पर अतिरिक्त श्रम के लिए बाध्य करना तो कदापि उचित नहीं है। जिस रूप में संगोष्ठी ने इसे रखा है उस रूप में यह स्वीकार नहीं होना चाहिए।

[illegible] हुआ, यह [illegible] की बात है, [illegible] और विचार [illegible] स्तर पर विचार होना चाहिए। [illegible] में कुछ [illegible] पर विचार होना चाहिए [illegible] [illegible] होगी।

सत्ता और सम्पत्ति से मुक्ति चाहिए

आज की दुनिया में शिक्षकों को पूछता तो कौन है, फिर भी यदि कोई मुझसे पूछे कि शिक्षक-दिवस पर मांगने को कहा जाए तो क्या मांगोगे, तो मेरा उत्तर यही होगा कि शिक्षक को शिक्षक बनने दीजिए—शिक्षक को शिक्षक बनने का अवसर और वातावरण पैदा कीजिए। सत्ता से ही नहीं, समाज से ही नहीं, अपने शिक्षक समाज से भी मैं यही कहूंगा वे भी शिक्षक को शिक्षक बनने का अवसर और वातावरण दिलाने में मदद करें।

शिक्षक, नौकर, व्यापारी

शिक्षक को शिक्षक बनने में अभी बहुत समय लगेगा। जिन्होंने संकल्प कर लिया है और गांधी या गिजुभाई की तरह अकेले चल पड़े हैं अपने रास्ते पर तो वे तो शिक्षक बन गए हैं, शेष लोग नौकर हैं, व्यापारी हैं, व्यवसायी हैं, इन्सान हैं, लेकिन शिक्षक नहीं हैं। किसी हालत में नहीं। शिक्षक-दिवस आ रहा है। शिक्षकों के लिए यह आत्मावलोकन का दिवस है। हम सभी जो अपने आपको शिक्षक कहते हैं, अपने अंतर में झांककर देखें और पूछें अपने आपसे कि क्या हम सचमुच शिक्षक का आसन ग्रहण करने योग्य हो गए हैं? क्या हमको शिक्षक बनने की छूट है? स्वतन्त्रता है? क्या कोई भी व्यक्ति या समुदाय किसी भी स्तर पर हमें वास्तव में शिक्षक बन जाने की आजादी देने का उपाय कर रहा है?

कागजों में हमें बहुत आजादी है लेकिन हमने इस आजादी का कितना उपयोग किया है और हमें इस आजादी का कितना उपभोग करने दिया गया है? और क्या हम शिक्षक के लिए शिक्षक बनकर जीने की संभावना देखते हैं? अगर देखते हैं तो ऐसी संभावना देखने की कोई इच्छा है? इच्छा है तो उसे पूरा करने का उपाय क्या है?

नये शिक्षक आयोगों पर पिछले दिनों शिक्षण स्तम्भ में जो लेख दिया गया था, उस पर कई प्रतिक्रियाएं आई हैं और अभी आ रही हैं। यह सुखद है कि सोचने वाले

शिक्षक है और ऐसे शिक्षक हैं जिन्होंने सजगतापूर्वक अपनी राय विस्तार से लि
प्रो० अग्रवाल को इलाहाबाद भेजी, कुछ पत्र 'लोकमत' स्तंभ में प्रकाशित भी हु
ये सब इसी तथ्य के द्योतक हैं कि शिक्षा की व शिक्षकों की समस्याओं पर विच
के लिए अवसर हो, आवाहन हो, तो कई शिक्षक सामने आ सकते हैं।

'राजस्थान पत्रिका' के 26 अगस्त, 83 के अंक में मुझे दो बातें विशेष ध्या
देने योग्य लगीं। एक डाक्टरों की प्राइवेट प्रेक्टिस पर संपादकीय लेख और दूसरा एक
समाचार कि अफीम मुक्ति शिविर में आए रोगी को कुसंगत के कारण कितना
दुर्दशाग्रस्त होकर अफीम की आदत से मुक्ति पाने के लिए माणकलाव आना पड़ा।

कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश सरकार ने सरकारी डाक्टरों की प्राइवेट प्रेक्टिस
पर प्रतिबंध लगा दिया है। यह प्रयोग कभी राजस्थान में भी हुआ था, प्रतिबंध
लगाया था, किन्तु चला नहीं। आखिर यथास्थिति बना दी गई, कुछ अन्य राज्यों
में भी ऐसा हुआ है। पत्रिका के संपादकीय में इस सबकी विस्तार से चर्चा करते
हुए अंत में जो टिप्पणी दी है वह विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें लिखा है—
"सिद्धान्त रूप से सरकारी नौकरी के साथ किसी भी वर्ग को निजी कमाई या धंधे
की छूट नहीं होनी चाहिए। जो डाक्टर सरकारी सेवा में आते हैं उन्हें निर्धारित
वेतन एवं सुविधाओं से सन्तुष्ट रहना चाहिए। पर आज की व्यवस्था ही दूषित हो
गई है जहां हर विशिष्ट वर्ग अपनी स्वार्थ पूर्ति में लगा हुआ है। ऐसे में नियम,
मर्यादा या प्रतिबंध का परिपालन के स्थान पर उल्लंघन अधिक होता है। डाक्टरों
की प्राइवेट प्रेक्टिस पर लगाए गए प्रतिबंधों का अन्यत्र जो हश्र हुआ, उत्तरप्रदेश में
किया जा रहा नया प्रयोग इससे भिन्न व अनुकूल होगा यह संभावना कहां है?
असली मुद्दा तो वस्तुतः हमारे वर्ग चरित्र का है और प्रणाली में परिवर्तन अथवा
प्रतिबंध चरित्र का स्थान नहीं ले सकता।"

शिक्षक की जिम्मेदारी

वर्ग चरित्र कह दीजिए, चाहे राष्ट्रीय चरित्र या व्यक्तिगत चरित्र। चारित्रिक
गुणों के विकास की जिम्मेदारी शिक्षक की बताई जाती है, लेकिन शिक्षक को छात्र
के चारित्रिक विकास पर ध्यान देना है क्या यह विद्यालय की समय-सारिणी में कहीं
है? क्या शिक्षक मण्डल (स्टाफ) की बैठकों में कभी कोई यह प्रश्न उठाता है कि किस
शिक्षक, किस अभिभावक या किस शिक्षाधिकारी के किस विचार, निर्णय अथवा
आचरण से हमारे विद्यालय के छात्रों के चरित्र पर अमुक असर पड़ेगा? जो छात्र
व छात्राएं शिक्षक का सम्मान ताक पर रखकर विद्यालय, महाविद्यालय या विश्व-
विद्यालय के परिसर पर सुने आम समाज विरोधी आचरण करते हैं, गुरुओं का
सम्मान ही नहीं उन पर हिंसक हमले करते हैं ('घेराव' हिंसक हमले के [illegible]
[illegible]

है ? सगत का असर पाने के लिए ही मां-बाप अपने बच्चे-बच्चियो को स्कूलो
ते हैं। स्कूलों के शिक्षक यदि केवल गणित, रसायन विज्ञान, अंग्रेजी या
र ही पढ़ाना अपना कर्त्तव्य समझते है और विद्यार्थी के चरित्र निर्माण मे
कोई हिस्सेदारी महसूस नही करते तो विद्यार्थी का चरित्र ऊंचा उठेगा कैसे?
ो की एक कहावत है 'झाड़ना पारखा फल पर थी', फल से ही वृक्ष के
जानकारी मिलती है। विद्यार्थियो का चरित्र ही बताएगा कि वे किस
र से आए हैं। पहले तो पहचान ही यही थी कि किस आचार्य का शिष्य है।
सोफिया और जेवियर और स्टीफन आदि नाम वैभवशाली वर्ग मे किसी
जमाते मे उपयोग होते हैं। सरकारी स्कूलो मे कभी कोई श्रेष्ठ प्रधाना-
रा अध्यापक समूह सयोग से आ जाता है तो उस सरकारी स्कूल की भी
ने लगती है, लेकिन सरकार की नीति यह है कि वह धाक बने उससे पहले
: को तोड़ दो। इसलिए सोफिया या जेवियर के समकक्ष आप किसी भी
स्कूल को रख नहीं सकते।

ा दृष्टि

ो अब शिक्षक क्या करें ? है तो वे नौकर ही। हमे कोई एक सस्था सौंप
नही कहेगा कि यही काम करो, इसी को अगीकार करो, आत्मसात करो।
। ऐसा होने का मतलब होता है आपको जरूर उस सस्था से कोई आर्थिक
हा रहने मे आपका कोई स्वार्थ निहित है और आपको एक स्थान पर
ाप भ्रष्ट हो जाएंगे। हम नही कह सकते कि सरकार का ऐसा सोचना
नत है, लेकिन हम यह तो कह ही सकते है कि हम जब गलत राह पर जा
हमे गलत राह पर जाने से रोकिए, सही राह बताइए और हम सही
चलें तो हमे कड़ी से कड़ी सजा दीजिए। सजा देना तो दूर रहा, बेचारा
न त्रुटि बताने, या सही समय विद्यालय आने, के लिए भी अपने सहयोगी
कर्मचारी को नही कह सकता क्योंकि उसकी राय का किसी भी कार्य-
लाभ के पदस्थापन मे कोई प्रभावी महत्त्व नही है। वास्तव मे सस्था
हो, विद्यालय के वरिष्ठ अध्यापको की राय का भी मान होना चाहिए।
को सचमुच शिक्षक बनने देना है तो पहला काम ही यही करना होगा
धान कोई एक व्यक्ति सदा के लिए न होकर वरिष्ठ अध्यापको का (जो
स्तनीय हों, खोखे-मासखों या स्वार्थी न हो) एक समूह हो जो कार्य-
मिका का निर्वाह तीन माह या छह माह के लिए बार दिया करे। बड़ी
सस्थाएं होंगी उन्हे वरिष्ठ अध्यापको का समूह सुझाएगा, समस्या
तेमसरों की व्यवस्था देखेगा। लेकिन इसमे पहले एक-एक शिक्षक को
कि वह शिक्षक कितना है और हमारी प्रणाली यह [illegible] कमेटी व

प्रबंध करेगी कि हमें ऐसे ही शिक्षक की जरूरत है जो शिक्षक बनना पसंद करे। जो शिक्षक वास्तव मे शिक्षक होगा उसकी संगत मे रहने वाले विद्यार्थी पर प्रभाव न पड़े यह असंभव है।

प्रभाव का एक ताजा उदाहरण ही ध्यान में लाने के लिए ऊपर 'राजस्थान पत्रिका' की उस खबर का उल्लेख किया गया है जिसमे अफीम मुक्ति शिविर आए एक रोगी की दुर्दशा का विवरण है। पिछले लेख मे जोधपुर के माणकलाव में अफीम छुड़वाने वाले एक संस्थान के समाज शिक्षा के लिए गए अभिनय सत्र का परिचय दिया गया था। उसी संस्थान मे भारतीय स्टेट बैंक सहयोग से तेरहवां अफीम मुक्ति शिविर चला। उसमे दिल्ली का एक तीस वर्ष नवयुवक आया। वह नवयुवक एक बड़ी इमारत का मालिक था, संपन्न था, बाल बच्चेदार, सुखी पारिवारिक जीवन वाला था। मकान मे किरायेदार भी रहते थे। उन किरायेदारों ने उसे अफीम खाना सिखा दिया। सिखा दिया तो आदत पड़ गई। इस आदत ने उसकी ऐसी दुर्दशा की कि वह अपना मकान, संपत्ति, पत्नी, बच्चे गंवा बैठा। इस बुरी लत के कारण उसे अपने हिस्से की तीन दुकाने बेचनी पड़ी। घर मे टेलीविजन था, वह भी बेचना पड़ा। पंखा भी गया। रेडियो भी गया। और गत वर्ष यह हालत हो गई कि दो बच्चो सहित उसकी पत्नी भी उसे छोड़कर चली गई। अपनी इस दुर्दशा का हाल पत्रकारों को बताते हुए वह बिलख बिलख कर रो रहा था। अब वह इस बुरी लत से छुटकारा पाने आया है। उसने बताया कि उसके जीजा की प्रेरणा से वह यहा आया है और उसे भरोसा है कि वह स्वस्थ होकर लौटेगा।

राजस्थान से बरंगा

ब-तब दुनिया आगे बढ़ी है। और जब-जब वे अपने कार्य के प्रति निष्ठावान नहीं
हे हैं तब-तब दुनिया पीछे हटी है। शिक्षक जब सत्ता और संपत्ति से दबकर अपने
व्यक्तित्व को निर्बल बन जाने देता है तब प्रगति के कदम पीछे मुड़ने लगते है। जब
ह इन दोनो शक्तियो के सामने खड़ा रह कर इनको ठोकर मार देता है तब प्रगति
ा रथ आगे बढ़ने लगता है।"

शिक्षक की स्वतत्रता का बीज गिजुभाई के इस सदेश मे स्पष्ट निहित
। हम इसे पहचाने और सत्ता व सपत्ति दोनो से उसे मुक्ति दिलाने मे सहयोग
रें।

समाज शिक्षा का एक अभिनय-सत्र

संचार माध्यमों की शक्ति का उपयोग आदमी उतना ही कर सकता है जितना उसको ज्ञान है। 'ज्ञान' की जगह हम 'सामर्थ्य' भी कह सकते थे किन्तु 'ज्ञान' स्वयं अपने आपमें एक बहुत बड़ी सामर्थ्य है। चिट्ठी लिखना संचार का एक माध्यम है, लेख-कहानी, कविता, उपन्यास-नाटक का लेखन भी एक संचार माध्यम है, भाषण कला भी संचार माध्यम है और ऐसे ही कागज व डाक संचार के बाद अब रेडियो, ग्रामोफोन, कैसेट या टेपरिकार्डर, वीडियो तथा सिलकोन चिप्स (ट्रांजिस्टर-कम्प्यूटर) बहुत बड़े संचार माध्यम हैं। इन सबका उपयोग समाज के हित के लिए कितना होता है और अहित के लिए कितना होता है यह देखने को समाज सतर्क रहे तो समाज की प्रगति की गति तीव्र होगी।

विद्यालय और घर में हम हमारे बच्चों के विकास के लिए किस संचार माध्यम का ज्यादा प्रयोग करते हैं? कागज-कलम, चाक-ब्लैकबोर्ड, पुस्तक और कहीं-कहीं रेडियो (विद्यालय प्रसारण, नाटक, कविता, समाचार और फिल्मी गानों समेत)। नाटक का प्रयोग हम शायद ही कभी करते हों।

एक दिन मैं एक मित्र के घर जब मिलने को गया तब मेरे मित्र की धर्म-पत्नी ने अपने 5-6 वर्षीय पौत्र को कहा नमस्ते करो, उसने नमस्ते किया। फिर कहा, गाना सुनाओ। बच्चे ने 'इस देश की धरती···' गाना सुनाना शुरू कर दिया। दादी ने कहा, ऐसे नहीं, नाच कर सुनाओ। बच्चा हाथ ऊंचे-नीचे करके, सिर हिला कर और पावों से ताल दे देकर गाने लगा। एक प्रकार से यह उसका अभिनय ही था।

अभिनय आनन्द देता है। अभिनय करने वाले को और देखने वाले, दोनों को इससे आनन्द मिलता है। वह बच्चा लगभग पूरा गाना यों अभिनय करते हुए गा गया। और भी छोटी-छोटी कविताएं हिन्दी व अंग्रेजी की सुनाईं। वही हाव भाव पूर्वक। तुतली जबान में सुहानी लगी वे सभी।

अब आप कल्पना कीजिए कि "देश की धरती सोना उगले" ...

अश्लील गालियों की हाव-भावपूर्वक अभिव्यक्ति देता तो हमें कैसा लगता ? तब कल्पना दूसरी होती। तब धरती (और मनुष्य) सोना उगलने की बजाय पत्थर उगलते, जहर उगलते।

बच्चे को जो शोभा नहीं देता वह प्रौढ़ को भी शोभा नहीं देता। पत्थर या जहर उगलने की बजाए उसकी भी धरती सोना उगले, तो उसको ज्यादा खुशी होती है। इसके लिए वह श्रम करता है, सोचता है। सही सोचना क्या है यह सीखता है। सही तरीका क्या है यह स्वतः अनुभव से, त्रुटियों से, अनुसंधान से, ज्ञान-विज्ञान के अनुसरण से, अनुशीलन से सीखता है। ज्ञान और कर्म का समन्वय कैसे हो इस पर लगातार विचार करके सीखता है।

विद्यालयों में अभिनय

विद्यालयों में बच्चे जो अभिनय करते हैं उसके स्वरूप और तत्व पर गौर करें। अभिनय का आयोजन करने वाले फुरसत निकालें और देखें कि अभिनय के लिए जो विषय चुना है वह कितना जानदार है और बेजान है, कितना जनहितैषी है और कितना जनविरोधी है। अभिनय हमेशा किसी-न-किसी भाव विशेष का उन्मेष करता है। आप यदि अभिनय के आयोजक हैं तो आप भी विचार कीजिए और अभिनयकर्ताओं को भी विचार करने को कहिए। अभिनयकर्ताओं को विचार प्रक्रिया में सम्मिलित करने से बहुत लाभ होता है। तब अभिनय का विषय और अभिनय का रूप-विन्यास उनका अपना हो जाता है। अभिनय वे क्यों करते हैं, श्रोताओं को उनके अभिनय में क्यों रुचि होगी, अभिनय के विषय की कौन-सी बात ऐसी है जिसके कारण उस विषय को लेने को वे तैयार हुए हैं और आज तक की सामाजिक घटनाओं, परिस्थितियों, व परिवर्तनशील मनो भावों में से किस घटना, किस परिस्थिति या किस मनोभाव को उन्होंने अपने समक्ष रखा है, इन सब विविध पहलुओं पर विस्तार से बच्चा तभी ध्यान दे सकता है जब उसका लगाव हो। बच्चे का अभिनय से लगाव पैदा करने के उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं।

बच्चा ही क्यों, किसी भी गाव के युवक भी अभिनय कला का उपयोग कर सकते हैं, सार्थक उपयोग कर सकते हैं। बूढ़ों को तो और भी मजा आएगा। उनको भी साथ लें तभी तो आपके अभिनय प्रयोग की प्रभावशीलता बढ़ सकती है। ये सब संभावनाएं हैं, हमारे सामने मौजूद हैं, लेकिन संकल्प, अभ्यास व साधना बिना हमारा जीवन उदास, नीरस, निरीह, क्रियाहीन, गतिहीन और पिछड़ा हुआ बना रहता है। हम चाहें तो माणकलाव में जो हुआ उससे कुछ शिक्षा ले सकते हैं।

माणकलाव में अभिनय-सत्र

माणकलाव जोधपुर से जैसलमेर जाने वाले रेलमार्ग पर एक छोटा-सा स्टेशन है। रात को जाने वाली गाड़ी शायद वहां ठहरती भी नहीं होगी। जोधपुर से आधा-पौन घंटे का रास्ता है। गांवों के विकास में रुचि रखने वाले युवक-युवतियों की सहायता से माणकलाव गांव में और गांव के आस-पास के क्षेत्र में विकास कार्य करने के उद्देश्य से श्रीमती शशि और उनके पति लक्ष्मीचंद त्यागी ने आज से करीब पांच वर्ष पूर्व यहां "सुचेता कृपलानी साक्षरता निकेतन" की स्थापना की थी। प्रतिवर्ष यह संस्था युवक-युवतियों के प्रशिक्षण के लिए छः महीने की पाठ्यचर्या आयोजित करती है। गत वर्ष एफ० ए० ओ० की कमला भसीन के सुझाव पर लक्ष्मीचंद ने इन युवा-प्रशिक्षणार्थियों के लिए 10 दिन का नाट्य प्रशिक्षण शिविर भी इसी छमाही कार्यक्रम के दौरान रखा। उस शिविर का संचालन करने के लिए दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय की स्नातिका त्रिपुरारि शर्मा आईं।

उनके साथ लक्ष्मी कृष्णामूर्ति भी आईं जो नाट्य-जगत का काफी अच्छा अनुभव रखती हैं। त्रिपुरारि तो विद्यार्थियों में मजदूर सभों और गांवों में विकासोन्मुखी कार्य करने वालों के बीच कई जगह काम कर चुकी हैं। त्रिपुरारि ने और लक्ष्मी ने माणकलाव के इस नाट्य-शिविर का प्रतिदिन का विवरण लिखा। 12 से 22 अप्रैल 1982 तक का एक-एक दिन का उन्होंने जो वर्णन किया वह 'डायरी आव ए थेटर वर्कशाप' नाम से चक्राकित रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें इन्होंने इस शिविर के जो उद्देश्य बताए हैं, जो दिन-प्रतिदिन की प्रक्रिया का ब्योरा दिया है, वह पढ़ने के बाद आपकी भी जरूर इच्छा होगी कि हमारी कितनी सुषुप्त शक्ति कितना उपयोगी काम करने को उपलब्ध है लेकिन त्रिपुरारि या लक्ष्मी का निर्देशन और शशि और लक्ष्मीचंद का सहारा न मिलने से यह सुषुप्त शक्ति सुषुप्त रहकर व्यर्थ चली जाती है।

यह तो सुना ही होगा कि 'सुचेता कृपलानी साक्षरता निकेतन' के संकल्प व सक्रिय से प्रयत्नों से सैकड़ों स्त्री-पुरुष अफीम की आदत छोड़ चुके हैं। इसी संस्थान के तत्वावधान में जब यह नाट्य शिविर लगा तो इस नाट्य शिविर के निर्देशकों व प्रशिक्षणार्थियों ने भी यह प्रश्न अपने-आप से किया कि हम क्या नाटक करें, किस लक्ष्य से करें, किसको श्रोता मान कर करें और वह प्रभावशाली होगा तो कैसे होगा।

अभिनय शक्ति का उपयोग

जब हम नाटक, नाटिका, प्रहसन, एकांकी या नुक्कड़ नाटक, या मूकाभिनय

या नाट्य-प्रवृत्ति के किसी भी रूप को अभिनीत करते हैं तो हमारी रचनात्मक शक्ति जागती है, सम्प्रेषण या संचार की शक्ति बढ़ती है, खुद के व जिनके साथ हम काम करते हैं उनके व्यक्तित्व के अनेक नये पहलुओं का ज्ञान होता है, परिस्थितियों की बारीक पहचान होती है, व्यक्तियों व परिस्थितियों के स्वरूप का विश्लेषण करके नये-नये आयामों में समझने की सामर्थ्य पैदा होती है और सबसे बड़ी उपलब्धि यह होती है कि खेल-कूद की भांति सामूहिक रूप से कार्य करने की भावना का विकास होता है। त्रिपुरारि और लक्ष्मी ने इन आधारों को सामने रखा था। हम शिक्षक हों चाहे अभिभावक, यदि हमें बच्चों-युवकों की अभिनय शक्ति का उपयोग करना है तो यों पहले स्पष्टतः सोचना चाहिए कि हम जो करने जा रहे हैं उसका आधार क्या है, उपयोगिता क्या है। आत्मविश्वास का विकास तो सबसे पहले है। जितना ही इन आधारों को हमारे सामने साफ-साफ लाने की कोशिश हम करेंगे त्यों-त्यों हमारा आत्मविश्वास अधिक समृद्ध होगा—हमारा, अर्थात् हमारे साथ हमारे अभिनयकर्मियों का, हमारे साथियों-सहयोगियों का।

दूसरा उद्देश्य इन्होंने यह रखा था कि जिन युवक-युवतियों को गांवों के विकास के लिए काम करना है वे मात्र भावात्मक समृद्धि को, मात्र मनोरंजन को, ही उद्देश्य नहीं रख सकते। उन्हें गांव के विकास को भी सामने रखना होगा, अर्थात् अपने अभिनय कर्म को विकास का माध्यम भी बनाना होगा।

कला को विकास का औजार या माध्यम बनाने के खतरे भी हैं। यह हर कलाकार-साहित्यकार या रंगकर्मी को ध्यान रखना चाहिए। मूल रूप से हर साहित्यिक कृति, या कलाकृति, मनुष्य को संस्कार देने वाली होती है (देती है या नहीं देती है, यह अन्य अनेक तत्वों पर निर्भर करता है), शिक्षाप्रद होती है अर्थात शिक्षा व संस्कृति का एक अत्यंत प्रभावशाली वाहक होती है।

नाट्यकला के इस खतरे को ध्यान में रखते हुए त्रिपुरारि और लक्ष्मी ने माणकलाव में देश के अलग-अलग भागों से आए 35 प्रशिक्षणार्थियों (जिनमें 8 लड़कियां थीं) को अभिनय कला का अभ्यास कराया। गेहूं खाने वालों और चावल खाने वालों के बीच जो तनाव चलता था वह देखा। दोस्ती-दुश्मनी-झगड़े-गिरोहबंदी आदि के रूप भी देखे। किसी को मलेरिया, किसी को पेटदर्द-सिर दर्द और कोई घर की याद से अनमना। यों 35 में से औसत 27-28 लोग अभिनय-सत्र में भाग लिया करते थे। कार्यक्रम यों रहता—

प्रातः 6.30 से 7.45 अभिनय के लिए आवश्यक व्यायाम (कोई लुंगी, कोई पाजामा, कोई पैंट, कोई धोती, कोई साड़ी में);

9 से 11 दूसरा सत्र जिसमें विषय, विषय के उद्देश्य, अभिनय के प्रकार पर चर्चा और फिर व्यक्तिगत सामूहिक अभ्यास;

दोपहर 11.15 से 12.30 तीसरा सत्र, जिसमें किसान की समस्या, दहेज

की समस्या, चुने हुए विषय अभिनय क्रम व संवादों की रचना व अभिनय अभ्यास;

सायं चार से छः सीधा सत्र जिसमें एक समूह नाटक खेलता है, शेष देखते हैं, टिप्पणी करते हैं, भूलें करते हैं, हंसते हैं, नाराज होते हैं, बहस करते हैं आदि;

रात आठ से नौ संवादों को सुनना, दुहराना, मांजना, आलोचना-प्रत्यालोचना और इन सबसे कलात्मकता, सोद्देश्यता तथा सर्वोपरि, रचनात्मकता पूर्ण की गहरी चर्चा।

लेकिन यह समय-विभाग-चक्र मौसम या अन्य आवश्यकता या विषय व अभिनय की अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप कभी बदल दिया गया, या कभी घटा-बढ़ा गया। मुख्य ध्यान इस पर रहा कि रुचि बढ़े, एक-दूसरे को निकट से जानें और समस्या को कलात्मक अभिनय से अधिक-से-अधिक प्रभावशाली कैसे बनाया जाए।

अनुभवों की डायरी

त्रिपुरारि और लक्ष्मी की लिखी यह डायरी हर उस शिक्षक, अभिभावक व रंगकर्मी के लिए उपयोगी है जो गांवों के विकास के लिए अभिनय के माध्यम का महत्व स्वीकार करते हैं और गावों के विद्यालयों में विद्यार्थियों तथा ग्रामवासियों (युवकों-युवतियों व वृद्धों) के सहयोग से शराब, अफीम, आलस्य, शोषण, दहेज, अंधविश्वास, मुक्ति तथा व्यापक सामाजिक चेतना के लिए, महिलाओं में जागृति के लिए, सामूहिक प्रयत्नों से गांवों की समस्याओं को हल करने के लिए, असरकारक छोटे-छोटे नाटक तैयार करना चाहते हैं।

सोचने व काम करने का भी तरीका होता है। काम करते जाने के साथ सोचते जाने का और उसको प्रतिदिन लिखते जाने का भी तरीका होता है। जो ऐसा करते हैं वे दूसरों के सोचने का, काम करने का, और करते हुए सोचने व सोचते हैं उसे लिखने का, तरीका सीखने का अच्छा माध्यम हमारे हाथ में दे देते हैं।

त्रिपुरारि और लक्ष्मी का लिखा गया यह दस दिनों का सटीक विवरण श्रीमती कमला भसीन, एफ० ए० ओ० प्रोग्रेम आफिसर, 55 मैक्समूलर मार्ग, नई दिल्ली-110003 से (संभवतः निःशुल्क) प्राप्त किया जा सकता है। एक बार मंगाइए, पढ़िए, शायद विद्यालयों में, गावों में और शहरी मोहल्लों तथा विद्यालयों में भी नाटक तय करने, तैयार करने, व अभ्यास कराने, का आपका तरीका ही बदल जाए। मानवलाव अभिनय शिविर का इनका यह प्रशिक्षण सत्र आपके लिए बहुत प्रेरणादायक साबित होगा।

शिक्षक का आदर्श स्वरूप क्या है ?

गत फरवरी माह मे जिन दो शिक्षक आयोगों का गठन किया गया था उन्होंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है। उच्च शिक्षा के लिए आयोग के अध्यक्ष प्रो० रईस अहमद हैं और विद्यालयी शिक्षा के आयोग के अध्यक्ष प्रो० डी० पी० चट्टोपाध्याय हैं। प्रश्नावलिया वितरित कर दी गई हैं। अगस्त के अन्तिम सप्ताह तक ये प्रश्नावलिया भरकर भेजने की अवधि निश्चित हुई है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान व प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली ने अपने क्षेत्रीय अधिकारियो की मार्फत इन प्रश्नावलियों को वितरित किया है। प्रश्नावली का नमूना राज्यों में राष्ट्रीय शै० अ० प्र० परिषद, नई दिल्ली के क्षेत्रीय अधिकारियो के कार्यालयो मे उपलब्ध हैं। कुछ शिक्षक संगठनो ने भी अपने सदस्यो को ये प्रश्नावलिया बाटी हैं। पता नहीं इन शिक्षा आयोगो ने किन लोगो की राय जानने का लक्ष्य रखा है किन्तु मेरी राय मे शिविरा, नया शिक्षक, शिक्षा विवेचन, पलाश, बोर्ड पत्रिका, जर्नल आफ इडियन एज्यूकेशन, फ्र टियर्स आव् एज्यूकेशन वेस्ट फार एज्यूकेशन,और एज्यूकेशनल रिव्यू जैसी पत्रिकाओ के लेखकों-सम्पादकों-समीक्षकों को भी इन प्रश्नावलियों की प्रतिया भेजी जानी चाहिए थी। प्रबुद्ध शिक्षकों मे से कई शिक्षक प्रायः शैक्षिक लेखन भी किया करते हैं। लेखन न करते हो तो भी कई प्रतिभाशाली शिक्षक प्रबुद्ध शिक्षक कहलाते हैं। उन्हे ढूढकर उनकी राय जानना जरूरी है। शिक्षण से जुडे और न जुडे, दोनो तरह के सम्पादकों-पत्रकारो की भी राय लेनी चाहिए। पता नही अभिभावको व छात्रों का अभिमत भी कितना जरूरी है। पता नही आयोग क्या सोचता है इस विषय मे लेकिन, इन सबको साथ नहीं लिया है तो पर्याप्त राय नहीं मिल सकेगी।

आयोग का काम

विद्यालयी आयोग की प्रश्नावली की चर्चा करने से पहले एक बात की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है। अध्यक्ष प्रो० डी० पी० चट्टोपाध्याय की या सदस्यो

की निजी पूर्वग्रह युक्त धारणाएं हो सकती हैं। जैसे प्रो० चट्टोपाध्याय का अपना विश्वास है कि एक ही शिक्षक यदि सभी विषय पढ़ाता है तो उचित नहीं है। इसलिए मई में उन्होंने पत्रकारों के समक्ष एक चिंता यह व्यक्त की थी कि 40 प्रतिशत स्कूलों में सभी विषय पढ़ाने के लिए केवल एक-एक शिक्षक ही है। अब उनकी यह चिंता बिना कोई आयोग गठित किये भी दूर की जा सकती है, यदि शिक्षा पर बजट का कुल प्रतिशत बढ़ा दिया जाए। जब तक ऐसा न हो तब तक शर्म की या चिंता की कोई जरूरत नहीं है। ऐसे और भी कई बिंदु हो सकते हैं। उन पर आयोग को खुले दिमाग से देश को कोई नई दृष्टि व दिशा देने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। योरोप-अमेरिका जैसे सम्पन्न देशों से उधार ली गई चिंता हमारे काम नहीं आयेगी। एक वाणिज्य या विज्ञान स्नातक या स्नातकोत्तर छात्र क्यों केवल विज्ञान या वाणिज्य ही पढ़ाता है ? आठवीं-दसवीं तक का प्रत्येक अन्य विषय, जो उसने किसी भी स्तर पर पढ़ा है, वह पढ़ा सकता है और पूर्णतया सही रूप में पढ़ा सकता है। हम अपेक्षा नहीं करते हैं तो वह क्यों पढ़ाये ? मानना होगा कि वह सक्षम है।

शिक्षा आयोगों को जिन विषयों पर विचार करना है वे हैं—(1) शिक्षण व्यवसाय के उद्देश्य, (2) शिक्षक का समाज में स्थान, (3) व्यवसाय में गतिशीलता को बढ़ाना, (4) इस व्यवसाय में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को कैसे आकर्षित करें, कैसे रोकें ? (5) शिक्षक प्रशिक्षण, (6) शिक्षण विधियां तथा तकनीकी, (7) शिक्षकों की भूमिका, (8) शिक्षा को विकास कार्य से जोड़ना, (9) अनौपचारिक शिक्षा, (10) शिक्षक संगठन, (11) शिक्षकों की आचार संहिता, और (12) शिक्षक-कल्याण।

भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार किरीट जोशी दोनों आयोगों के सदस्य सचिव हैं। प्रश्नावली को भरकर प्रो० एस० बी० अदावल को 5, बैंक रोड, इलाहाबाद के पते पर भेजना है।

इन विषयों पर आप देश को कोई नई राय दे सकते हैं ? सोचें और अदावल को सूचित करें। प्रति हमें देंगे तो हम आगे चर्चा चलायेंगे। हमें आपकी राय खास तौर से निम्न बिन्दुओं पर अपेक्षित है—

—आपकी राय में भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताएं क्या हैं ? उनमें से किन्हीं तीन के नाम बतायें।

—भारतीय मूल्य क्या हैं ? आज की जरूरतों के संदर्भ में उनमें किस दिशा में पुन: पुष्टि, परिवर्धन तथा संशोधन की आवश्यकता है ?

—शिक्षकों में श्रेष्ठता सम्बन्धी कौन से विशेष गुण होने चाहिए ?

—शिक्षण व्यवसाय में गतिशीलता और अनुक्रियाशीलता (रेस्पॉन्सिवनेस) को प्रोत्साहन करने के उद्देश्य से चार कारगर उपाय सुझाएं (आधुनिक युग बड़े

बड़ा, बच्चा-बूढ़ा, सबके वे हमदर्द थे। पूरे कानोड़ को उन पर भरोसा था। होने को तो वे सरकारी स्कूल के हैडमास्टर थे पर ब्रांच पोस्ट-आफिस को सम्भालते थे। हर समय पोस्टकार्ड-लिफाफा-मनीआर्डर अपने पास कोट की जेब में रखे रहते। जहां भी जो भी मिल जाता उसकी चाह के अनुसार उसे लिफाफा, पोस्टकार्ड मिल जाता। जिसका मनीआर्डर होता उसे भी दे आते। यही नहीं तब वे कुनैन की गोलियां भी अपने पास रखते, ताव, तेजारा, निकाला किसी को होता, दे आते।"

शिक्षक का समाज से जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उतना ही अधिक प्रभावशाली उसका शिक्षण कार्य होता है। माड़साब उमादत्तजी की उपरोक्त विशेषताओं के कारण वे समाज के निकट आने में कितना सफल हो गये होंगे इसकी आप सहज की कल्पना कर सकते हैं। यह उनकी 'बिजनेस टेक्नीक' नहीं थी, 'रणनीति' (स्ट्रेटेजी) नहीं थी। यह उनका स्वभाव था, उनके व्यक्तित्व का सहज अंग था। जो भी काम हाथ में आ गया उसको उन्होंने अपने सहज स्वभाव का अंग बना लिया और उसे सरकारी नौकरी से ऊपर उठाकर अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लिया। यही उनके व्यक्तित्व की मौलिकता थी।

अद्भुत शिक्षा—अद्भुत सादगी

सामान्यतया श्रेष्ठ शिक्षकों का जीवन नियमित होता है, वे चार बजे उठते हैं, प्रातः भ्रमण को 4-6 मील तक जाते हैं, शाम को भी घूमते हैं। 'माड़साब' का जीवन भी ऐसा ही था। लेकिन उनमें जन-शिक्षा की आकांक्षा भी थी। वे अखबार पढ़ते और फिर सबको खबरें सुनाते। चलते-चलते भी सबको जानकारी देते कि देश में कहां क्या हो रहा है। गांव में हिन्दुस्तान का नक्शा सबसे पहले उन्होंने मंगवाया। कोट की जेब में घड़ी रखते। लोगों को समय बताते। लोगों से जुड़ने का यह भी एक मजेदार सूत्र था। अपनी-अपनी समझ है। कई रास्ते होते हैं आम जन से जुड़ने के। देर से जागने वाला, प्रातः भ्रमण को न जाने वाला शिक्षक भी लोकप्रिय हो सकता है। मूल बात यही है कि कोई गुण ऐसा हो जो प्रभावित करे, लोगों के हृदय को छुए, सम्पर्क में आकर कुछ सीखने के लिए प्रेरित करे। उमादत्तजी की आवश्यकताएं सूक्ष्म थीं, परमसन्तोषी थे। दोनों समय भोजन अपने हाथ से बनाते थे। मिर्च ज्यादा नहीं खाते थे। सादगीपूर्ण जीवन हो और ज्ञान पर ध्यान हो और अधिक की आकांक्षा न हो तो शिक्षक का जीवन कितना प्रेरणाप्रद, कितना प्रभावपूर्ण बन जाता है यह इस उदाहरण से साफ स्पष्ट हो जाता है।

क्या ऐसा जीवन यापन करना शिक्षक के लिए बहुत कठिन कार्य है? तब

क्या सम्पन्न

बगले, बगीचे वाले शिक्षक को हम शिक्षक नहीं मानेंगे ? आदर्श नहीं मानेंगे ? शिक्षक के लिए विपन्न होना और जबरदस्ती लोगों के गले पड-पडकर देश-विदेश की खबरें उनके कानों में ठूसना जरूरी है ? आदर्श है ? उसी दृश्य का यह दूसरा पहलू है। आप चाहे तो यों भी सोच सकते हैं। लेकिन जरूरत इस बात की है कि हम कुछ सोचें तो सही ! शिक्षक आयोग ने जब हमें न्योता दिया है तो हम कुछ विचार तो करें कि आखिर शिक्षक का ऐसा कौन-सा स्वरूप हमें प्रिय है जो आदर्श और यथार्थ दोनों के करीब है ?

सुन्दर विराट मौलिक व्यक्तित्व

तात्विक रूप से उमादत्त जैसे शिक्षक समाज की औसत आर्थिक रेखा से नीचे ही हुआ करते हैं और इसी कारण वे विनम्र होते हैं, इसी कारण वे आम जन के अधिक निकट रहते हैं और इसी कारण वे समाज के एक बडे भाग की श्रद्धा के अधिकारी हो जाते हैं। समाज के एक बडे भाग की औसत ज्ञान रेखा से ऊपर होने के कारण वे गर्व से जनशिक्षा करने के भी अधिकारी हो जाते हैं। परहित को वे प्राथमिकता देते है। आप सुनो न सुनो, वे आपको खबरें सुनायेंगे ही, ज्ञान की बात बतायेंगे ही। हिन्दुस्तान ही नही, दुनिया के नक्शे मे आप कहा खडे है यह आपको जानकारी कराते रहेंगे। और यह सब स्वेच्छा से, स्वप्रेरणा से, एकाग्रता से, निष्कपट-निस्वार्थ भाव से। इस सशक्त लघु शब्द-चित्र मे मुझे देश के लाखो निस्वार्थ, निष्कपट, निरन्तर जन सेवारत शिक्षकों के सुन्दर विराट मौलिक व्यक्तित्व का दर्शन होता है। ऐसे विराट मौलिक व्यक्तित्व वाले शिक्षकों की मनोहर छवि इसके लेखक डॉ० भानावात की तरह और भी कई विद्यार्थियों के मन मे बस रही होगी और वे विद्यार्थी उद्योग, वाणिज्य, अध्यापन, लेखन आदि नाना क्षेत्रों मे कार्यरत होंगे। लेकिन उस छवि को यो प्रकाश मे कम लाया गया है। अब मौका है। उन छवियों को प्रकाश मे लाया जाना चाहिए ताकि शिक्षकों की समस्याओ पर विचार करने वाले आयोग प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के शिक्षको के सही स्वरूप को पहचान सकें और सही दृष्टि से समाज मे उनकी स्थिति पर विचार कर सकें।

शिक्षण में शिक्षार्थियों की भागीदारी

शिक्षण प्रक्रिया का सूत्रधार शिक्षक के सिवाय और कौन हो सकता है? शिक्षक ही है और शिक्षक ही रहेगा। उसे अपदस्थ करने का यहां कोई प्रस्ताव नहीं दिया जा रहा है। इसलिए यदि यह कहा जाए कि शिक्षण में शिक्षार्थियों की भागीदारी की संभावना के स्रोतों की भी खोज होनी चाहिए तो इसमें शिक्षकों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

शिक्षण-विधियों को अधिक प्रभावकारी बनाने की ओर ध्यान देने वाले शिक्षक जानते हैं कि यदि कक्षा में पूरे पीरियड वे ही बोलते रहे तो शिक्षार्थी के लिए पाठ नीरस हो जायेगा। इसलिए वे प्रश्नोत्तर विधि से शिक्षार्थी को जागृत रखने की कोशिश करते हैं। ऐसे शिक्षकों में जो शिक्षक आगे बढ़ना चाहते हैं वे शिक्षार्थी को न केवल जागृत रखते हैं, बल्कि खुद कम बोलकर उसे अधिक बोलने को प्रेरित करते हैं। इसके लिए शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों-महाविद्यालयों में एक अंग्रेजी शब्द "इलिसिट" का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होता है प्रकाश में लाना, (निष्कर्ष) निकालना, प्राप्त करना। छात्र जो जानता है वह प्रकाश में कैसे आये, उसे हम प्राप्त कैसे करें, अर्थात् हम कैसे जानें कि वह क्या जानता है, कितना जानता है, इत्यादि उद्देश्यों को सामने रखकर शिक्षक बीच-बीच में कुछ प्रश्न ऐसे करता जाता है जो शिक्षार्थी को शिक्षण प्रक्रिया का भाग बना देते हैं। ये प्रश्न जागृत रखने का काम भी करते हैं जांच का काम भी करते हैं और बच्चे की विषय पर पकड़ मजबूत करने में मददगार भी होते हैं। ये प्रश्न उसका आत्मविश्वास बढ़ाते हैं। ये प्रश्न उसे अभिव्यक्ति का अवसर देते हैं। अभिव्यक्ति के अवसर की मात्रा बढ़ाने का अवसर पाते ही जागरूक शिक्षक यदि यह मात्रा बढ़ा देता है तो वह विजयी हो जाता है क्योंकि तब मंच पर उसकी क्रिया क्षीण हो जाती है और बालक की क्रिया बढ़ जाती है। बालक की क्रिया ज्यों-ज्यों बढ़ेगी त्यों-त्यों शिक्षक को बालक की अधूरी सूचनाओं का, गलत तथ्यों का और कमजोरियों का पता चलता जायेगा। यदि बालक केवल आपको सुनता ही रहेगा तो आपको यह गलतफहमी बराबर बनी

रहेगी कि उसने वह सब कुछ समझ लिया है जो आपने अपने पीरियड में उसे पढ़ाया है।

सजीव संबंध

मां-बाप भी जाच करें तो उन्हें भी अपने बच्चे-बच्चियों के इस रहस्य का ज्ञान कभी भी हो सकता है। मां-बाप समझते हैं कि उनकी संतान दैनिक-साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएं रोज पढ़ती हैं इसलिए जरूर उनका ज्ञान बढ़ा-चढ़ा होगा। कभी पूछिए उनसे कि वैनेजुएला कहां है? नहीं उत्तर मिले तो पूछिए आंध्रप्रदेश की राजधानी कहां है? वे उत्तर देंगे— भुवनेश्वर। और केरल की? वे उत्तर देंगे— मदुराई। और मध्यप्रदेश की? वे उत्तर देंगे—लखनऊ। और तब आपको पता चलेगा कि आपकी संतान कितने पानी में है। आप जो उसे रोज अखबारों में आंख गड़ाये देखते हैं उसका कितना असर हुआ है यह आपको तभी मालूम होगा जब आप उसको सुनेंगे।

इसलिए, हम चाहे शिक्षक हों, चाहे मां-बाप, हमें उसे अधिक से अधिक सुनना जरूरी है। जब तक शिक्षार्थी को जागृत नहीं रखा जाएगा, लगातार उसे जांचा नहीं जायेगा और शिक्षा प्रक्रिया से उसका सजीव, सक्रिय और घनिष्ठ संबंध जोड़ा नहीं जायेगा, तब तक उसके विकास की रफ्तार कभी तेज नहीं हो सकेगी।

आप चरित्र को ही ले लीजिए। कसौटी पर कसे बगैर आप जान ही नहीं सकते कि किसका क्या चरित्र है! चोरी का अवसर दो फिर देखो कि चोरी करता है कि नहीं। लड़ने का कारण पैदा करो फिर देखो कि लड़ता है कि नहीं। बेईमानी या भ्रष्ट आचरण के नमूने आप खेल के मैदान में बहुत देखते हैं, किन्तु उन्हें हसकर उड़ा देते हैं। तब निश्चित तौर से वह बेईमान ही बनेगा। शिष्टाचार का उसने कितनी बार किन परिस्थितियों में कैसे उल्लंघन किया, क्या इसका कोई अभिलेख (रिकार्ड) आप स्कूल में रखते हैं? आप इसे शायद गंभीरता से नहीं लेते होंगे। गंभीर मानते भी नहीं होंगे। तब फिर वह सभ्य, शिष्ट व सुसंस्कृत कैसे बनेगा? जैसे आप भूगोल के सवाल पूछते हैं, गणित के, इतिहास के या भाषा के सवाल पूछते हैं, गृह-कार्य देते हैं, ऐसे ही आप विद्यार्थी को उसके व्यवहार के बारे में सवाल पूछ सकते हैं, गृह-कार्य दे सकते हैं। यह गृह-कार्य और ये सवाल उसको न केवल चरित्रवान बनायेंगे, बल्कि जीवन-जगत को समझने की ओर राय बनाने की उसकी क्षमता विकसित करेंगे तथा मौखिक व लिखित अभिव्यक्ति की चतुरता भी उत्पन्न करेंगे। यहां मैं इस पक्ष के विस्तार में नहीं जाऊंगा। इस पक्ष पर अलग से ग्रन्थ बनाये जा सकते हैं, विस्तृत विचार हो सकता है। यहां भी इस उदाहरण से मैं इतना ही यहां बताना चाहता हूं कि स्कूल हो चाहे घर, विषय शिक्षण हो चाहे चरित्र शिक्षण, सहभागिता की विधि पर बल दें तो हमारा काम ज्यादा असरदार

हो सकता है और प्रगति की रफ्तार ज्यादा तीव्र हो सकती है।

विद्यार्थी विकास पुस्तिका

जिस नई प्रणाली का मैं यहां प्रस्ताव कर रहा हूं उसमे मानीटर प्रणाली, समूह शिक्षण प्रणाली तथा आंतरिक मूल्यांकन प्रणाली, इन तीनों प्रणालियों, के तत्त्व शामिल हैं। शिक्षार्थियों मे शिक्षण प्रक्रिया का सक्रिय सजीव अंग बनने की प्रवृत्ति विकसित करना इसका मुख्य उद्देश्य है। जो वरिष्ठ शिक्षार्थी होगा वह मानीटर होगा। हम उसे 'लघु शिक्षक' नाम दे सकते हैं, या उसे 'शिक्षण सहायक' भी कह सकते हैं। या कोई और ज्यादा उपयुक्त नाम भी ढूंढ सकते हैं। वह अपनी ही कक्षा के या अपनी कक्षा से नीची कक्षा के कुछ शिक्षार्थियों के समूह का प्रभारी होगा। अपने समूह के प्रत्येक विद्यार्थी के विषय ज्ञान की वृद्धि देखना उसका दायित्व होगा। किसी भी साधारण-सी कापी में वह हर शनिवार को अपने समूह के प्रत्येक शिक्षार्थी से संपर्क करेगा। कक्षा मे उस दिन तक पढ़ाये गये पाठ या इकाइयां उस शिक्षार्थी को कितनी समझ आई हैं और किस सीमा तक वह पिछड़ रहा है, यह ज्ञात करके वह अपनी कापी मे उसे लिखेगा और सम्बन्धित शिक्षक को सौंप देगा। शिक्षक इन सभी लघु शिक्षकों की बैठक करेगा और कापियों में लिखी राय को देखकर उनसे उनके समूह के शिक्षार्थियों के विषय में विचार-विमर्श करेगा, चर्चा करेगा। यह कापी एक प्रकार का आतरिक मूल्यांकन अभिलेख होगी। इसका नाम 'विद्यार्थी विकास पुस्तिका' भी रख सकते हैं। ये पुस्तिकाएं शिक्षक के पास रहेंगी।

वरिष्ठ शिक्षार्थियों की सहायता से कमजोर छात्रों की देख-भाल की इस प्रणाली को हम 'शिक्षण में शिक्षार्थियों की भागीदारी प्रणाली' नाम दे सकते हैं। विकसित विद्यार्थियों द्वारा विकासशील विद्यार्थियों के विकास का जिम्मा लेना वरिष्ठ विद्यार्थियों के गौरव मे वृद्धि करेगा। उनमें नेतृत्व के गुणों की भी वृद्धि होगी। उनका अपना विषय ज्ञान भी इस पद्धति से स्वतः बढ़ेगा। शिक्षक जो काम आज अभी कर नहीं पा रहा है वह काम उसके 'लघु शिक्षक' कर सकेंगे। जो सूचना अभी उसके पास रहनी नहीं है वह रहने लग जायेगी। जिन विद्यार्थियों तक अभी वह गहरे पहुंच नहीं पाता है, उन तक अब वह अपने इन नये नैतिक सहायकों की मदद से पहुंचने लग जायेगा।

शिक्षक की भूमिका में शिक्षार्थी

वह चाहे तो सूचना आकलन करने के साथ-साथ इन 'लघु शिक्षकों' के माध्यम से '[illegible]' शिक्षण का कार्य भी करा सकता है। ये 'लघु शिक्षक' अपने शिक्षक से [illegible]

करेंगे और खुद ही चयन करके उसे सूचित कर देंगे कि उस दिन किस शिक्षार्थी की कौन-सी कमजोरी दूर करने का उन्होंने निर्णय लिया है। वह सुनेगा। जरूरी, बहुत ही जरूरी हो कभी, तो कोई संशोधन सुझायेगा, अन्यथा अधिकांशतः अनुमोदन करेगा। पहलकदमी की वृद्धि के लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है। शनिवार को प्रायः सभी विद्यालयों में चार पीरियड ही होते हैं। ये पीरियड 'रिमीडियल' शिक्षण के लिए, 'विद्यार्थी विकास पुस्तिका' के अवलोकन व विचार-विमर्श के लिए तथा किस पक्ष को शिक्षक अपनी योजना में लेगा और किस पक्ष को इन 'लघु शिक्षकों' के जिम्मे सौंपेगा—इस पर चर्चा के लिए उपयोग में लाये जायेंगे। शनिवार का दिन एक प्रकार से 'रिमीडियल' शिक्षण दिवस ही हो जायेगा।

रिमीडियल शिक्षण के साथ-साथ इन 'लघु शिक्षकों' को यह भी काम सौंपा जा सकता है कि किस विद्यार्थी में लेखन, चित्रण, गायन, भाषण या नाट्य-कला के प्रति अनुराग है। विद्यालय की बाल सभा या साहित्यिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के लिए उपयुक्त विद्यार्थियों की वे तलाश करेंगे, उन्हें प्रेरित प्रोत्साहित करेंगे और सम्बन्धित प्रभारी शिक्षक को नामों की सूचियां देंगे।

विद्यालय प्रधान हर दूसरे महीने इन लघु शिक्षकों की एक बैठक बुला लिया करे, इनके द्वारा रखी जाने वाली पुस्तिकाओं का एक विहंगावलोकन कर लिया करे और उस बैठक में कुछ उल्लेखनीय बिन्दुओं पर उन लघु शिक्षकों से थोड़ी चर्चा भी कर लिया करे तथा कोई सुझाव या कुल कार्य पर अपनी राय दे दिया करे तो इन लघु शिक्षकों का मनोबल बढ़ेगा तथा वे अधिक उत्साह व रुचि से इस कार्य को कर सकेंगे। यह 'लघु शिक्षक परिषद' विद्यालय के शिक्षा कार्य को एक नया रूप प्रदान कर देगी। गुणात्मक दृष्टि से कितना लाभ करेगी यह तो हम इसका कैसा संचालन करते हैं इस पर निर्भर करेगा, किन्तु विद्यालय के वातावरण में एक नई हलचल और एक नई स्फूर्ति इससे जरूर आ जायेगी क्योंकि 'समूह प्रभारी' बनाये गये और 'लघु शिक्षक' नाम से विभूषित प्रतिभाशाली तेजस्वी विद्यार्थियों के एक नये समूह की उत्पत्ति होगी। इस नये समूह की एक विशेषता यह भी होगी कि यह विद्यालय के शेष विद्यार्थी समुदाय से कटा हुआ नहीं होगा। साथ-साथ काम करने के कारण तथा कमजोरों का सहायक होने के कारण यह नया समूह शेष विद्यार्थी समुदाय से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ होगा तथा निरन्तर प्रति सप्ताह पूछे होने के कारण वह विशेष सम्मान का स्थान भी पायेगा और निरन्तर सुधार कार्य (रिमीडियल) के अभ्यास का अगुआ होने के कारण शेष विद्यार्थी समाज में उसकी घनिष्ठता में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी।

बड़ा सिद्धान्त यह है कि हमें कोई नया अधिकारी-पिरेमिड नहीं बनाना है, बल्कि हमारे पास जो जन-बल (मैन पावर) है उसका समुचित पुनर्नियोजन

करना है, शिक्षार्थी की शक्तियों के अपव्यय को रोककर उसी के, और उ
साथियों के, ज्ञान की वृद्धि के शुभ कार्य में उस शक्ति का, मेधा का, सद्वृत्ति
का सदुपयोग करना है। मस्तिष्क की, सद्वृत्तियों की और ज्ञान की शक्ति
प्राथमिक-उच्च प्राथमिक, या माध्यमिक-उच्च माध्यमिक स्तर पर जितना
अधिक उपयोग होगा उतनी ही अधिक उसकी वृद्धि होगी। उतनी ही अधिक
दृढ़ होगी। शिक्षण कार्य में ही यदि यह उपयोग संभव है तो हम इसका समुचि
उपयोग क्यों न करें? शिक्षक अकेला जो अभी कर सकता है उससे नानागुणि
कार्य होगा क्योंकि तब वह अकेला नहीं रहेगा, उसके अनेक शिष्य सहायक हों
भागीदार होंगे।

बांसवाड़ा

2. राज. मा. वि., छिड़ियावाग
3. रा. मा. वि., देवरा
4. रा. मा. वि., घाटोल

भीलवाड़ा

5. रा. मा. वि., महुवा

बीकानेर

6. रा. मा. वि., शेखसर

डूंगरपुर

7. रा. मा. वि., रास्तापाल
8. रा. मा. वि., मुराता

जयपुर

9. रा. मा. वि., पहाड़गंज, जयपुर

जोधपुर

10. आर्य बा. मा. वि., सरदारपुरा, जोधपुर
11. रा. मा. वि., विजवाड़िया

कोटा

12. रा. मा. वि., सारथल
13. रा. मा. वि., पालिया

सीकर

14. श्री गांधी मा. वि., जैरामपुरा

उदयपुर

15. रा. मा. वि., भुवाना
16. रा. मा. वि., भाटिया चौहटी

पांच प्रतिशत

भीलवाड़ा

1. रा. मा. वि., रोपर 3.33 प्रतिशत

बीकानेर

2. रा. म्यु. मा. वि., बीकानेर 1.85 प्र. श.

जयपुर

3. रा. मा. वि., गुरढासी 3.85 प्र. श.

जोधपुर

4. रा. मा. वि., दाबरा 4.00 प्र. श.

सवाई माधोपुर

5. रा. मा. वि., मूडिया 1.72 प्र. श.

6 रा. मा. वि., बेमारी 4.88 प्र. श.

श्रीगंगानगर

7. रा. मा. वि., मौरझड़खारी 3.70 प्र. श.

उदयपुर

8. रा. मा. वि., कोटड़ा 4.00 प्र. श

9. रा. मा. वि , देवाली 4.76 प्र. श.

उ. मा. स्तर पर कोई विद्यालय नहीं था जहां शून्य या पांच प्रतिशत तक का परिणाम रहा हो।

नीचे से भी नीचे

सन् 1981 में 25 प्रतिशत से भी कम परिणाम जिनका था उन पर बोर्ड ने 81-82 में विशेष ध्यान रखा, "निरीक्षित" विद्यालय रहा और 82 में पिछले परिणामों से तुलना की तो ऐसे 18 विद्यालयों में से 12 विद्यालय तो आगे प्रगति पर नजर आये लेकिन 6 विद्यालय ऐसे थे जो अपने 81 के न्यून परिणाम से भी न्यून स्तर पर उतर गए। तुलनात्मक सूची प्रस्तुत है :—

स्कूल	1981	1982
रा. मा. वि. रास्तापाल (डूंगरपुर)	15.00	00 00
रा. नगर उ. मा. वि., बासवाड़ा	13 88	11.70
श्रमजीवी रात्रि मा. वि., उदयपुर	11.43	10 87
मीरा मा. वि., धानमंडी, अजमेर	22.58	19 05
श्री मैथिलि ब्राह्मण मा. वि., अजमेर	11.90	8.33
बाल भारती आर्य मा. वि , रामपुरा, कोटा	18.18	9.09

रास्तापाल की मा. स्कूल की स्थिति सर्वाधिक चिन्तनीय रही जहां 15 प्रतिशत से सर्वथा शून्य पर परिणाम पहुंच गया। यह रास्तापाल नहीं, रास्तारोक परिणाम है।

शर्मनाक परिणामों की रोकथाम के क्या उपाय हों, इस पर कृपया विचार करें। विद्यालय के प्रधान और उनके सहयोगी तो इतना ही कर सकते हैं कि हर विषय के शिक्षण पर विशेष ध्यान दें। अधिक हुआ तो यह भी कि व्यक्तिशः ध्यान देने के लिए नवीं-दसवीं के छात्रों-छात्राओं को संस्था-प्रधान के साथ बैठकर आपस में बांट लें और यह जिम्मेदारी ले लें कि प्रत्येक विद्यार्थी के अभिभावकों से मिलकर उनकी कठिनाइयों को समझेंगे उन्हें दूर करने में अभिभावकों का सहयोग लेंगे तथा खुद भी प्रयत्न करेंगे। शिक्षक आकर्षक होगा, व्यक्तिशः ध्यान दिया जायेगा और अभिभावक भी सक्रिय होंगे तो जरूर कुछ लाभ होगा।

औपनिवेशिक युग की नीति

किन्तु दूसरा पक्ष संस्था, प्रधान या अध्यापक-अध्यापिकाओं के हाथ में नहीं है। वह पक्ष शिक्षाधिकारियों को संभालना होगा। भीतर गहरे जो गांव सामान्य शहरों-कस्बों से दूर, बहुत दूर हैं और जो निम्न परिणाम लाने की संभावना रखते हैं वहां के विद्यालय का प्रधान और शिक्षक उसे कदापि न बनाया जाए जो स्वयं अनेक आधि-व्याधियों से ग्रस्त है। जो आधि-व्याधियों से ग्रस्त है उसे शहर में या सुविधाजनक स्थान पर सहायक प्रधानाध्यापक के रूप में ही रखा जाए तो रुग्णावस्था से उबरने की कोई आशा पैदा हो सकती है। पीड़ित आदमी ज्यादा पीड़ा पायेगा तो विद्यार्थियों व ग्रामवासियों के सुख का उपाय करने में रुचि कैसे लेगा? विभाग को यह नीति बनानी होगी कि कर्मठ, धैर्यवान, सहिष्णु और सौम्य व्यवहार से संपन्न उच्च कोटि के शिक्षक व संस्था-प्रधान ही दरस्थ गांवों के विद्यालयों में भेजे जाएं। ऐसे गांवों में जो तीन साल रहकर अच्छा परीक्षा परिणाम एक-दो साल दे दे उसे हर साल के अच्छे परिणाम की एक वेतन-वृद्धि पुरस्कार के रूप में दी जा सकती है। जब बी. एड.-एम. एड. करने पर वेतन-वृद्धियां दी जा सकती हैं तो इतने कठिन स्थान पर जाकर तपस्या करने पर वेतन-वृद्धियां क्यों न दी जाएं? शून्य प्रतिशत या पांच प्रतिशत से भी कम परीक्षा परिणाम देने वाले विद्यालयों की ही कठिनाई हमें नहीं देखनी है, 40 से नीचे या 30 से नीचे प्रतिशत के परिणाम देने वाले सभी विद्यालयों को हमें देखना चाहिए और कभी नहीं भूलना चाहिए कि कम ज्ञान वाले, कम बुद्धि वाले, झगड़ालू या अपराधी वृत्ति वाले कर्मचारियों को सुदूर गांव वालों के पल्ले बांध देने की औपनिवेशिक युग की नीति अब नये युग के अनुकूल नहीं है। उत्कृष्ट शिक्षक शहर में सीमित न रखकर गांव को भी देना चाहिए, प्रत्युत पहले देना चाहिए। वह इसे सजा न माने इसके लिए उन्हें वहां विशेष उद्देश्य से भेजा जाना चाहिए और अच्छा परिणाम रखने पर एक वेतन-वृद्धि देनी चाहिए। करके देखिए, शायद स्वेच्छा से जाने वाले सैकड़ों शिक्षक मिल जाएं। जो भी हो हमें गांवों को भूलना नहीं है और

निम्न परिणामों की पुनरावृत्ति न होने के लिए जो भी उपाय जरूरी हों उन पर जरूर अमल करना है।

सजा शिक्षक को या गांव को ?

वेतन-वृद्धि आप दें या न दें, शिकायती शिक्षक को या संस्था-प्रधान को दूरस्थ गांव में सजा के रूप में भेजकर पूरे गांव को सजा देने का काम तो हमें बंद करना ही होगा। कोई उपाय करो, किन्तु शिकायती व्यक्ति को गांव को मत दो। यह गांव के साथ, गरीब के साथ, साधनहीन के साथ, सर्वहारा के साथ बहुत बड़ा अन्याय है। प्रशासन का "काले पानी" के युग से यह पुराना उसूल है कि पिछड़े को पहले सुविधा दें चाहे न दें, शिकायती और अपराधी किस्म का हर व्यक्ति जरूर देंगे। अब तो "काले पानी" को भी भारतीय जनतंत्र की सभी सुविधाएं पहुंचाई जा रही हैं, तब हमारे ग्रामवासी हमको जान-बूझकर असुविधा क्यों पहुंचाते हैं? आप किसी भी शिक्षाधिकारी से बात करके देख लीजिए, वह अब किसी शिक्षक या संस्था-प्रधान को दंडित नहीं कर सकेगा, सब गुस्से में यही बोलेगा कि भेज दो इसको बाड़ी-चौरीला, शेरगढ़, सीवाणा, बालसमंदपोल, अर्णिया ओसी, रामदुरिया, बूहमू, बड़ोराम। वह यह नहीं सोचता कि समस्या शहरों के अभाव से हटकर गांवों के अभाव में आने से समाप्त नहीं हो जायेगी। वह नई समस्याओं को जन्म देगी जिन्हें आप देखें न देखें, परीक्षा परिणामों के रूप में वे कभी-न-कभी आपके सामने जरूर आयेंगी। तब फिर क्यों न ऐसा उपाय करें कि शहरों की समस्याओं को शहर में रखें और गांवों का कल्याण करने को स्वस्थ, सौम्य, श्रेष्ठ शिक्षक भेजें।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का अधोपतन क्यों ?

किसी कमजोर छात्र की कमजोरी के लिए कौन जिम्मेवार है ? शिक्षा विभाग कहता है शिक्षक जिम्मेवार है। इसलिए वह शिक्षक की वार्षिक वेतनवृद्धि रोक कर सजा देता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय कहता है कि सामाजिक पिछड़ापन (धर्म, जाति आदि के कारण वंचित रहने से), आर्थिक पिछड़ापन (मां-बाप की आय के स्रोत अल्प या क्षीण होने से), तथा प्रादेशिक पिछड़ापन (सरकार द्वारा स्वीकृत पिछड़े क्षेत्रों में निवास से) इसके लिए जिम्मेवार है। इसलिए देश का यह पहला विश्वविद्यालय है जहां इन तीनों प्रकार के कारणों से शिक्षा में कमजोर रह जाने वाले विद्यार्थियों को प्रवेश में विशेष वरीयता देने का सुनियोजित प्रावधान है। पहले 20 प्रतिशत तक अंक मात्र वंचित होने के कारण ही प्राप्त कर लेने का प्रावधान था, अब पिछले सत्र से यह 13 प्रतिशत कर दिया गया। पहले तीनों प्रकार के पिछड़ेपन का लाभ लिया जा सकता था, अब केवल दो प्रकार के पिछड़ेपन का ही लाभ लिया जा सकता है। लेकिन यह भी कम नहीं है। दो अंक या मात्र एक अंक का भी प्रावधान बहुत मदद करता है। लोग एक अंक पाने के लिए भी कैसे-कैसे तिकड़म रचते हैं, कितने झूठे प्रमाणपत्र बना या बनवा लेते हैं, यह हम आये दिन सुनते रहते हैं। अतः कमजोर वर्ग के कमजोर रह जाने वाले छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए जो विश्वविद्यालय इतना सुव्यवस्थित उदार प्रबंध करता है वह अद्वितीय होने के साथ-साथ प्रशंसनीय भी है।

एक आदर्श स्थिति

अद्वितीयता के दो बिन्दु और हैं : देश का यह एक मात्र विश्वविद्यालय है जहां कोई सार्वजनिक परीक्षा आयोजित नहीं होती है। और काफी बड़ी संख्या में विद्यार्थी तथा करीब आधे अध्यापक विश्वविद्यालय के परिसर में ही रहते हैं। एक बड़ा आश्रम है यह जहां विद्याध्ययन बिना किसी सार्वजनिक परीक्षा के भय के अनवरत निर्बाध होता है।

एक आदर्श स्थिति है। आपके-मेरे, सभी के सपनों का इसे एक सुन्दर विशाल शिक्षा केन्द्र बह बन सकते है। विश्वविद्यालय को मात्र परीक्षाओं के आयोजन की भूमिका में देख-देखकर सच्चे विद्यार्थी और शिक्षक जाने कब से कितने दुखी रहते हैं। जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय की स्थापना ऐसे ही जिज्ञासु-ज्ञानार्थी-मुमुक्षु विद्यार्थियो व शिक्षकों का स्वप्न साकार करने के लिए हुई थी।

शिक्षक और विद्यार्थी याज्ञवल्क्य-भारद्वाज आश्रम की तरह साथ-साथ निवास करें और सामुदायिक जीवन को सयुक्त रूप से अनुभव करे और दिन-रात अनौपचारिक तरीके से भी विचार-विमर्श के जरिए विद्याध्ययन इतनी गहराई से चले और यथार्थ से इतना जुड़ा हुआ चले कि थोडे समय में ज्यादा लाभ हो और सही लाभ हो।

पिछड़ेपन पर भी कई शिक्षको व सामाजिक-राजनीतिक चिंतको का ध्यान काफी लंबे समय से आकृष्ट है। ईवान इलिच और पावलो फ्रेरे अपने अमर ग्रन्थ "डीस्कूलिंग सोसायटी" तथा "पैडगॉजी ऑव् द ऑप्रैस्ड" के जरिए इस आवश्यकता पर विविध पहलुओं से जितना कह चुके हैं उतना शिक्षा के इतिहास में भी शायद कभी किसी ने नही कहा। मैं तो कई बार सोचा करता हूं कि क्यो नहीं हम कोई ऐसी विधि बना देते जिससे 50 प्रतिशत से नीचे शून्य अंक तक पाने वालो का और 50 प्रतिशत से ऊपर शत-प्रतिशत तक अंक पाने वालों का बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व उच्च शिक्षा या प्रशिक्षण या अनुसधान संस्थानो मे हो सके। इसलिए 20 की बजाय जो 13 प्रतिशत अवसर रखे है वहां ज. ने. वि. यदि 50 प्रतिशत अवसर कर देता तो ज्यादा खुशी होती। लेकिन अन्य विश्वविद्यालयो मे जब उतना भी नही है तो जितना ज. ने. वि. ने किया, वह कम स्वागत योग्य नही बन जाता।

कहते हैं एक छात्र पर करीब 12000 रुपये प्रतिवर्ष व्यय होते है। यह भी कहते हैं कि करीब 32 लाख की छात्रवृत्ति प्राप्त करके विद्यार्थियो ने वांछित शोध-कार्य आज तक प्रस्तुत ही नहीं किया है। अभी तक देश इस पर 100 करोड रुपये खर्च कर चुका है (भवन, सामग्री आदि मिलाकर) और प्रतिवर्ष 2 करोड [illegible] मित व्यय कर रहा है। गुरु-शिष्य का साख्यिकीय अनुपात 1:10 [illegible] ऐसी भी विकासशील देश मे नही होगा। प्रोफेसर 61 हैं, सहायक

ज्ञान, सामान्य समझ और सामान्य व्यवहार की भी सर्वथा उपेक्षा ? क्या इसी के लिए हमने ऐसा *अद्वितीय विश्वविद्यालय बनाया था* और उसे इतनी विशिष्टताओं से मंडित किया था ?

पिछले माह उपकुलपति पी. एन. श्रीवास्तव को रेक्टर प्रो. एम. एस. अगवानी तथा कार्यवाहक रजिस्ट्रार के साथ एक कमरे में बंद करके उनके साथ *48 घंटे तक बर्बरतापूर्ण व्यवहार, विश्वविद्यालय विद्यार्थी संघ के उत्तरदायित्वपूर्ण* पदाधिकारियों व उनके अन्य सहपाठियों द्वारा किया गया, उसे देखते हुए उपरोक्त प्रश्नों का उठना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं हो सकता। लेकिन यदि हम भूत और भविष्य को सामने रखे बगैर कोई उत्तर इन प्रश्नों का देंगे तो वह भी उतना ही गंभीर भूल होगी जितनी कि गंभीर यह घटना है !

यह कोई सामान्य घटना नहीं, एक भीषण दुर्घटना है।

यह क्यों घटित हुई, इसका सीधा-सा छोटा-सा तथ्य तो यह है कि *छात्रावास के वार्डन ने एक छात्र को सही राह पर लाने का प्रयत्न किया, लेकिन सफल नहीं हुआ तो दूसरे छात्रावास में भेजने का निर्णय लिया; जिसका फल भोगने के लिए विद्यार्थी समाज ने वार्डन को भी, रेक्टर को भी, उपकुलपति को भी, कई, प्रोफेसरों व उनके परिवारवालों व मिलने को आये आगंतुकों को भी बाध्य किया। इससे आगे बढ़ें तो दूसरा तथ्य यह है कि विद्यार्थी संघ और प्रशासन और प्राध्यापकगण सभी ने कई भूलें कीं। लेकिन आप और आगे बढ़ें तो इन भूलों के जन्म, प्रोत्साहन और वृद्धि के उत्तरदायित्व का एक बड़ा भाग हमारी अपनी राष्ट्रीय व स्थानीय 'राज' नीति का भी पाएंगे।*

राजनीति और प्रशासन

"राज" में शिक्षा का कितना महत्त्व है, यह जानने के लिए ज़रा केन्द्र के कोने की ओर दृष्टिपात कीजिए,—[illegible] शिक्षा मंत्रालय का अवमूल्यन ही होता गया है। समय था जब मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, प्रो. हुमायूं कबिर और डॉ. कालूलाल श्रीमाली जैसे विद्वान शिक्षाविदों के हाथ में इसकी बागडोर थी। फिर [illegible] शुरू हो गई। कुछ मंत्री तो ऐसे भी आये जो न तो शिक्षाविद् थे और न इतने महत्त्वपूर्ण पद को संभालने की पर्याप्त योग्यता ही रखते थे। पन्द्रह वर्षों से यही क्रम चलता आ रहा है। सन् 1971 तक कैबिनेट स्तर के मंत्री के हाथ में शिक्षा रही। [illegible] बाद [illegible] राज्य मंत्री का ही पद [illegible] और शिक्षा का पूरा [illegible] ही [illegible] किया गया। [illegible] शिक्षा नहीं। [illegible] हुई [illegible] नहीं [illegible] आई तो [illegible] भी [illegible] हुई। [illegible] अनुसरण की। [illegible] के लिए

विद् थे ? क्या वे हुमायूं कबिर या कालूलाल श्रीमाली से कहीं भी तुलनीय थे। समझदारी तो यह होती कि वे बी.बी. जॉन को, बी. डी. नागचौधरी को या कोठारी आयोग के कारण देश भर मे विख्यात दौलतसिंह कोठारी को बुलाती और उन्हें केबिनेट का दर्जा देतीं। श्रीमती गाधी में साहस और समझ की कमी नहीं है। वे विरोधियों को भी पास रखने मे कम निपुण नही हैं। चाहती तो वे या इनके जैसा अन्य शिक्षाविद् भी वे ढूढ सकती थी, शिक्षामंत्री का दर्जा ऊंचा उठा सकती थीं। शिक्षामंत्री का दर्जा ऊचा उठाने की ओर उसकी नेतृत्व क्षमता की चिंता हम न करें तो कैसे उम्मीद करेंगे कि शिक्षा का दर्जा ऊचा उठेगा, उसकी क्षमता बढ़ेगी ? हम देश मे शिक्षा के विकास के प्रति कितनी रुचि रखते हैं और इसको कितना आवश्यक व महत्वपूर्ण मानते हैं, इसका पहला संकेत वहां मिलता है जहां हम शिक्षामंत्री का चुनाव करते हैं।

ऐसा ही दूसरा स्थल होता है शिक्षा मंत्रालय के सचिव का चयन। डॉ. वी. के. आर. वी. राव पहले शिक्षामंत्री थे जिन्होंने एक आई. सी एस. (एस. चक्रवर्ती) को शिक्षा सचिव बनाया। फिर आई. डी. एन साही आये। फिर के. एन खन्ना तो वित्त मंत्रालय से ही आ गये। फिर पी. सबनायगम और टी. एन. चतुर्वेदी ! दोनों ही प्रशासनिक सेवा के। हालांकि चतुर्वेदी काफी अच्छे अध्येता हैं, लेकिन शिक्षा मे पैठ का तो वे स्वयं भी शायद कोई दावा नहीं करेंगे।

प्रशासनिक सेवा में शिक्षा की समझ वाला होता नहीं, या वह समझ वे विकसित नहीं कर सकते, ऐसा मैं नहीं कहता, क्योंकि मैं जानता हू कि इनमें शिक्षा मे अद्भुत रुचि वाले व्यक्ति भी कभी-कभी सामने आते हैं। अनिल बोर्दिया ने केन्द्र में राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को जन्म देकर और देश के हर राज्य मे प्रौढ़ शिक्षा व अनौपचारिक शिक्षा के हजारों केन्द्र चलने व बढ़ने की एक सुदृढ़ व्यवस्था कायम करके जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह सुविदित है। रणजीतसिंह कूमट, एम. डी. कौरानी व इन्द्रजीत खन्ना जैसे उदाहरण भी मिल सकते हैं। इनमें भी विद्वत्ता और प्रशासनिक पटुता है। खन्ना अभी इसी माह ही अहमदाबाद की इंस्टीट्यूट ऑव मैनेजमेंट में प्रोफेसर का कार्य करते-करते लौटे हैं। अत: सवाल प्रशासनिक सेवा का उतना नहीं है, जितना रुचि और रुझान का है। रुचि और रुझान नियुक्त करने वाले का भी और नियुक्त होने वाले का भी। दोनों मे हमें यह देखना होगा कि वे शिक्षा की अपेक्षाओं को कितनी महत्ता देने हैं—देने की क्षमता रखते हैं। अनिल बोर्दिया या कौरानी या खन्ना का भी महत्व है और जॉन, नागचौधरी या कोठारी का भी महत्व है। लेकिन इन दोनों से भी बहुत दूर 'किसी को' प्रशासक को शिक्षा का काम सौंपने की प्रवृत्ति रहेगी तो वही प्रवृत्ति विश्वविद्यालय, शिक्षा-विभाग व अन्य सभी शिक्षा संस्थानों में भी प्रतिबिंबित होगी। के. जी. सैय्यदन और जे. पी. नायक भी शिक्षा मंत्रालय मे हमारे सामने ही

काम कर चुके हैं। लेकिन इनका हम कितना मान करते हैं ? बी. डी. नागचौधरी को ज. ने. वि. के उपकुलपति पद से क्यों हटना पड़ा ? बी. बी. जॉन और बेदप्राण त्यागी और कालूलाल श्रीमाली को विद्यार्थियों का कोपभाजन बनने की परिस्थितियां क्यों पैदा हुई ? आज जोधपुर विश्वविद्यालय में एक लंबे समय से हड़ताल क्यों नहीं हो रही है ? इन सब को हमें देखना होगा। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से लें, प्रशासनिक सेवा से लें, चाहे सामाजिक कार्य-कर्ताओं में से लें, शिक्षा की समझ और प्रशासनिक पटुता दोनों का समावेश जितनी उच्चकोटि का होगा उतना ही शिक्षा का ढांचा जल्दी सुधरेगा। जैसे किसान या श्रमिक से राजनेता और मंत्री होने पर पाबंदी नहीं है, वैसे ही प्रशासनिक सेवा से या सैन्य सेवा से भी आकर शिक्षा क्षेत्र का नेतृत्व कोई सम्भाले तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। देखना यह चाहिए कि कौन किस कार्य में कितनी रुचि रखता है और कितना योग्य है।

समाज का समर्थन

यह आप ऊपर के स्तर पर देखते नहीं और अपेक्षा करते हैं कि नीचे सब ओर सुयोग्यता का प्रयास हो, तो यह कैसे संभव होगा ? राजनीतिक दलों को भी यह देखना होगा कि वे शिक्षा की समझ विकसित करें तथा शिक्षा संस्थानों में दंगे और हिंसा फैलाने की बजाय सही राजनीतिक समझ के विकास में मदद करें। यह मांग करना तो निरर्थक है कि विद्यार्थी संघ न बने, राजनीति से दूर रहें या वे विरोध का कोई स्वर ही उच्चारित न करें। साफ प्रशासन की मांग वे करें, सभ्य तथा शिष्ट विधियां अपनायें, ऐसा हम उनसे कह सकते हैं; लेकिन तभी न जबकि उनके शिक्षक भी साफ नीति रखें, प्रशासक भी स्वच्छ प्रशासन दें और समाज में यह वातावरण बने कि विद्यालयों-विश्वविद्यालयों पर होने वाला एक-एक पैसा भविष्य के कल्याणमय जीवन की सुरक्षा हेतु हमारा स्वेच्छा व बुद्धिमानी से लगाया हुआ पैसा है। एक-एक क्षण अमूल्य है जो कभी वापस नहीं लौट सकेगा !

शिक्षा तंत्र के संचालक इस दिशा में जो भी दृढ़ कदम उठायेंगे उसे समाज का पूरा समर्थन मिलेगा, ऐसी अभिव्यक्ति सत्ता को, विरोधी पक्ष को और समस्त अभिभावकों को शीघ्र देनी चाहिए, अन्यथा ये दंगे, ये घेराव और कानून व व्यवस्थाहीनता के ये प्रकरण समाज-विरोधी तत्वों की अभिव्यक्ति में सहायक होते रहेंगे तथा शिक्षा और समझ की उनमें आहुति लगती ही रहेगी।

खेलकूद और एशियाड

एशियाड को देश के कई लोगो ने कई दृष्टियों से देखा। उनमे राजनीतिक दुराग्रहों से परिपूर्ण दृष्टिया भी थी और शुद्ध देशहित, खेलहित, स्वास्थ्यहित से उत्पन्न दृष्टिया भी थी। शिक्षा सस्थाओ मे एक नई प्रेरणा के रूप मे, एक ऐतिहासिक घटना के रूप मे और एक आदर्श के रूप में एशियाड का प्रभाव जरूर हुआ होगा, रहेगा, और हम चाहें तो ज्यादा समय तक ज्यादा गहरे रूप मे भी यह प्रभाव रहने का प्रबन्ध किया जा सकता है।

तमाशे के रूप मे, समय व धन के अपव्यय के रूप मे, इसको देखें तो कोई प्रेरणा, कोई प्रभाव हम नहीं ले सकेंगे। समारोह या सम्मेलन या संगोष्ठी को कुछ लोग सचमुच तमाशा और लूट का साधन बना लेने मे प्रवीण होते हैं। लेकिन ऐसे लोगो की भी कमी नहीं है जो धन का सदुपयोग करने की भावना रखते हैं, जो देश मे खेल-कूद को जीवन का अंग बनाने की राष्ट्रीय आकांक्षा जागृत करना चाहते हैं और जो निष्ठापूर्वक खेल-कूद की प्रवृत्तियो के प्रसार हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं।

मैं सोने के हिरण का पीछा करने के पक्ष मे नहीं हू। मैडल जापान ले जाता है या चीन या कोई और देश, मैं समान रूप से प्रसन्न होता हू। खेल के मैदान मे सभी खिलाड़ी हमारे होते हैं। जीतने वाले के साथ हम हर्षित होते हैं, हारने वाले के साथ हम दुखी होते हैं। हमारे हृदय पर जब मस्तिष्क सवार हो जाता है और मस्तिष्क की ग्रन्थियो के वशीभूत होकर हम आचरण करने लगते हैं तब हम खेल की भावना से हट जाते हैं। तब हम मनुष्य के धरातल पर, खिलाडी के धरातल पर नही रहते; भौगोलिक, राजनीतिक, जातिगत, सम्प्रदायगत आदि भिन्न-भिन्न सकीर्ण धरातलों पर उतर आते है। इन संकीर्ण धरातलों पर उतरने से खेल का मैदान युद्ध का मैदान बन जाता है!

इसलिए हमें यह जरूर समझ लेना है कि विश्व शांति के लिए, विश्व की सामूहिक समृद्धि के लिए युद्ध के मैदान बढ़ाने की बजाय खेल के मैदान बढ़ाने ज्यादा

जरूरी है। युद्ध का मैदान बड़ा बनाने की बजाय खेल का मैदान ही बड़ा बनायें तो क्या बुरा है? भारत-पाक युद्ध पर और भारत-चीन युद्ध पर जितना व्यय किया उतना व्यय यदि एशियाडों और ओलम्पिकों के आयोजनों पर होने से पारस्परिक सद्‌भाव की वृद्धि होती है, खेल की भावना, सहिष्णुता, समझ और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की वृद्धि होती है, तो यह तमाशा नहीं है, अपव्यय कदापि नहीं है। होना चाहिए आगा-पीछा देखकर। देश की परिस्थितियों के सही परिप्रेक्ष्य में। देश के कर्णधार उन पर ध्यान देंगे। हम तो इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि हम शिक्षा संस्थाओं में और अभिभावक के रूप में घर पर तथा नागरिकों के रूप में गली-मोहल्लों मे व्यायामशालाओं, खेल-कूद के आयोजनो मे रुचि बढ़ावें और छोटी उम्र मे ही बालक-बालिकाओ को अपने शरीर को खेल-कूद के माध्यम से अधिक-से-अधिक चुस्त और तन्दुरुस्त रखने का अवसर दें।

चीन की सफलता का रहस्य क्या है?

एशियाड मे आये खिलाड़ियों से पत्रकारों को मिलने की सुविधा नहीं थी। बम्बई के अंग्रेजी साप्ताहिक 'सण्डे ऑब्जर्वर' के प्रतिनिधि शिरीष नाडकर्णी ने चीन के बैडमिंटन खिलाड़ी हान जियान से महिला द्विभाषिका सोंग जोंग के माध्यम से जो सूचना प्राप्त की उसके अनुसार चीन मे तीन वर्ष के बाद ही चीन के बालक-बालिकाओ का व्यायाम अभ्यास प्रारम्भ हो जाता है। पूरा चलना शुरू करने से पूर्व ही वे जिम्नास्टिक करने की नमनीयता धारण कर लेते हैं। उस उम्र में लोच पैदा न हो तो बाद मे यह लोच लाना बहुत कठिन है। टेबिल-टेनिस और बैडमिंटन वहां के राष्ट्रीय खेल हैं। इन खेलों को खेलने का अवसर बच्चों को पांच-छह साल की उम्र मे ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। छत से एक डोर के सहारे गेंद या शटल को लटकाकर उन्हें खूब अभ्यास कराया जाता है। स्कूल जाना शुरू करने से पहले बच्चे पूरे आकार की टेबलों पर खेलने लग जाते हैं। मेजो के पाये जरूर छोटे होते हैं ताकि नन्हे-नन्हे बच्चो को गेंद नजर आ सके। दस वर्ष की उम्र का होने तक उनका टेबल-टेनिस और बैडमिंटन ही नही, बास्केट-बॉल तथा तरण-ताल (तैराकी) पर भी समान अधिकार हो जाता है। तरण-ताल मे छलांग लगाने (डाइविंग) का अभ्यास उनको बहुत छोटी उम्र में ही करा दिया जाता है। सोंग जोंग ने नाडकर्णी को बताया कि बालवाड़ियों (किंडरगार्टेन) मे अभी वे खेल-कूद के कार्यक्रमों का क्षेत्र और भी अधिक बढ़ाना चाहते हैं। छोटे बच्चो के तरण-ताल मे कांच की दीवारें होती हैं जिनमें से बच्चो की टांगों की हरकतों को देखा जा सकता है, सुधार किया जा

विज्ञान और गणित का खेल-कूद से घनिष्ठ सम्बन्ध

विज्ञान और गणित का कई खेल-कूद कार्यक्रमो से गहरा सम्बन्ध होता है। खिलाड़ियो को उनका भी अध्ययन करना होता है। दस-बारह साल के खिलाडी अपने शिक्षक-प्रशिक्षक चुन लेते हैं। अपनी-अपनी रुचियो, अभिवृत्तियो के अनुकूल प्रवृत्ति चुनने को छात्र स्वतन्त्र होते हैं, लेकिन शिक्षक-प्रशिक्षक यह जरूर देखते है कि वॉलीबॉल तथा बास्केट-बॉल वह व्यक्ति चुने जो कद मे लम्बा हो। थोडा और बडा होने पर उन्हें खेल-कूद विश्वविद्यालयो मे भेज दिया जाता है। वहा एक-एक खेल का सागोपाग अध्यापन होता है। हर पहलू पर व्याख्यान होते हैं। हर पहलू का कड़ा अभ्यास कराया जाता है। यहा वे खिलाडी पढाते हैं जो चीन का नाम दुनिया मे रोशन कर चुके हैं, सफलता के सूत्रो को कामयाबी के साथ सीख चुके है। जैसे चीन का बैडमिंटन कोच है हाउ जियाचाग, जिसने डेनमार्क के एरलाड कोप्स को हराया था।

एशियाड मे नाडकर्णी ने जब हान जियाग से बात की तब भी अभ्यास जारी था। बात करते समय वह यों खडा था मानो किसी कल्पित कुर्सी पर बैठा हो। जाघे जमीन के समानातर और कमर शहतीर के समान सीधी। एक मिनट के लिए हवा मे यो बैठकर तो देखिए, मालूम हो जायेगा कि कितनी यन्त्रणा होती है! लेकिन हान उस आसन मे आप कहें उतनी देर तक खड़ा रह सकता है। आप कहें उतनी देर तक फुदक सकता है और जिस रफ्तार से चाहे उस रफ्तार मे फुदक सकता है। यह सब परिणाम है अभ्यास का। अभ्यास, अभ्यास, अभ्यास। अभ्यास जिसमे कष्ट है लेकिन सुखदायी कष्ट। सीखना और अभ्यास करना साथ-साथ चले तभी प्रगति होती है।

राजस्थान, बीकानेर मे सादुल पब्लिक स्कूल को स्पोर्ट्स स्कूल घोषित करके राज्य ने खेलकूद की दिशा मे अपनी इच्छा तो व्यक्त कर दी; लेकिन ऐसी एक स्कूल से काम नही चलेगा। हर स्कूल के शारीरिक शिक्षक को देखना होगा कि हमारे विद्यालयो के बालको को खेल-कूद की प्रवृत्तियो मे भाग लेने का नियमित रूप से अवसर मिलता है या नहीं, वह प्रोत्साहित होता है या नहीं। प्रोत्साहित करना, अभ्यास कराना, चयन करके गहरे अभ्यास का प्रबंध करना; शिक्षा विभाग अपना जिम्मा समझे। नागरिक और अभिभावकगण भी जिला शिक्षा अधिकारी से मिल-कर जन सहयोग से गली-मौहल्ले की व्यायामशालाए प्रारभ करें और बालवाडियो मे जिम्नास्टिक्स योग नमनीयता लाने के क्या-क्या अभ्यास अनुकूल है व इनका अभ्यास करना कितना कहा उचित व अनुकूल है इस पर भी विचार हो, तो हम भी चीन से, एशियाड से, कुछ जरूर सीख सकेंगे। हर गाव, हर शहर, हर विद्यालय मे खेल का अवसर बढ़ाना चाहिए।

सिला, मंद-मंद आवाज में। फिर वही राजपूताना के भूगोल की और दुनिया के भूगोल की नई-नई बातें। राजपूताना, हिन्दुस्तान और दुनियां का भूगोल तब क्रमशः अलग-अलग कक्षाओं में मिडिल कक्षाओं में पढ़ाया जाता था। तीनों कक्षाओं में मैंने उनसे पढ़ा था उन्हें पढ़ाना अच्छा लगता था। हमें पढ़ना अच्छा लगता था। हम भूल करते और वे माफ करते तो हल्की-सी चिकोटी काटकर मुस्कुराते रहते। वे नाराज होते तो मुस्कुराहट स्थगित और चमड़ी उठा दी जाती, उमेठ दी जाती। सुख-दुख सब साथ थे। कुल प्रभाव बाद में ज्ञात हुआ। वह आज साथ है।

लेकिन उनकी इस महानता, इस निष्ठा, इस स्निग्धता को कौन जान सकता था? किसने जाना? डींग मारना तो दूर, वे न कभी मुख्याध्यापक के साथ बैठते थे और न कभी विद्यार्थियों या अध्यापकों के बीच। उन्होंने हमें कितना रूलाया, कितना हंसाया और कितना अध्ययनशील बनाया—इसकी सूचना किसी को कैसे होगी?

दूसरे अध्यापक थे। कोई नियमित पीरियड नहीं। शारीरिक शिक्षक थे। नाटा कद। स्थूल शरीर। मोटा पेट। मूछें छल्लेदार। फुटबाल खिलाते थे कभी-कभी। कभी-कभी खाली पीरियड में हमें चुप रखने उन्हें भेज दिया जाता। कसीदेदार लंबी नाक वाली रंगीन जूतियां पहने चर्र-मर्र करते आते। डरावनी आंखें थी। सहम कर सभी चुप हो जाते। वे पसर कर कुर्सी में धंस जाते। हिन्दी-राजस्थानी-ब्रज-अवधी के कई पद याद थे। बोलते। अर्थ पूछते। कौन बताता अर्थ? पढ़ा ही किसने था! हंसते। "बस! यह भी नहीं जानते?" और वे बुलंद आवाज में, किन्तु धीमी गति से, अर्थ समझाते। कोई अंतर्कथा भी कह देते। हंस देते, सारी कक्षा को हंसा देते। कुछ तो लहजा, कुछ बातें ही ऐसी और कुछ रौब ऐसा कि उनका साथ देना जरूरी। अंग्रेजी मास्टर का काम अधूरा हो चाहे गणित मास्टर का, सजा देने का ठेका भी इनका ही था। निष्ठापूर्वक आखिरी पीरियड के बाद मेंढक-चाल, ऊठ-बैठ या डंड-डिप्स के द्वारा यथायोग्य सजा देना वे कभी नहीं भूलते। जिस रोज सजा मिलती उस रोज घर जाना मुश्किल हो जाता। लंगड़ाते हुए, कभी-कभी रोते हुए घर पहुंचते। हमारे और उनके इन संबंधों की पहचान हमारे सिवाय किसको हो सकती है? आज मैं जो कुछ करता हूं, जो कुछ सोचता हूं, जो कुछ लेखन करता हूं, उस सब में उनका भी कोई हिस्सा जरूर है। सुख-दुख सब साथ थे। कुल प्रभाव भी आज साथ है। सीना तान कर चलते थे, डींग मारने में भी आगे थे। कक्षा के बाहर कुछ भी होंगे। कक्षा के भीतर और सजा देते वक्त मैदान में, वे हमारे साथ जो व्यवहार करते थे, उसकी बात, मैं केवल मैं ही बता सकता हूं, और वह यही कि वे एक बहुत अच्छे इंसान थे। हम उससे उस वक्त प्रसन्न भी रहे और अप्रसन्न भी, किन्तु आज उनका स्मरण करके मैं उनके प्रति श्रद्धा से भर जाता हूं। वे जो सजा देते थे

उसका नाम भी सजा नहीं था, 'एक्स्ट्राड्रिल' था। और आप समझते हैं। एक्स्ट्रा थी तो फिर वह एक्स्ट्रा ही होनी थी, असाधारण ही होती थी। लेकि हमें वह सजा कम याद हैं। उनका कक्षा में पसर कर मस्ती से साहित्यि ज्ञान-चर्चा करना ज्यादा याद है। जब कभी कक्षा में पढ़ाते वक्त मैं ज्याद गंभीर हुआ हूं तो उनका स्मरण आते ही सहज हो गया हूं और पाठ्यक्रम की ली छोड़ कर छंद, कवित्त, सोरठे, दोहे सुनाये हैं या निराला-अज्ञेय-माचवे आदि विविध रसास्वादन के काव्यांश सुना दिये हैं। मैं जब पढ़ाता था तब ये कोई कोर्स में नहीं थे। 'राहुल' और 'अज्ञेय' के यात्रा-संस्मरणों की प्रशंसा करके पुस्तकालय में पड़ी पुस्तकों के नाम बता देता। विद्यार्थी टूट पड़ते। पढ़ते। यों मस्ती और आनन्द और सहजता और कुतूहल पैदा करके इस तत्त्व के लिए उस शारीरिक शिक्षा के शिक्षक को याद कर लेना काफी है मेरे लिए।

शिक्षक का मूल्यांकन करने वाले सोचें कि कोई शिक्षाधिकारी या प्रधानाध्यापक या निरीक्षक किसी शिक्षक के बारे में आज की पद्धति से, बाहर से कितना जान सकते है ?

कालांश और पाठांश का समीकरण

पढ़ाने के तरीकों का वैज्ञानिक नाम तो मैं नहीं जानता लेकिन पढ़ाने का मेरा तरीका कक्षा में कितना प्रभाव पैदा कर रहा है इसका मुझे पूरा ध्यान रहता है और प्रभाव को देख-देखकर मैं तरीके बदलना भी जानता हूं और बच्चों का पढ़ने का आनन्द बना रहे ऐसे तरीको को अपनाने की कोशिश भी करता रहता हूं।

हिन्दी, गणित, सामाजिक ज्ञान, अंग्रेजी, संस्कृत आदि कई विषय मैंने पढ़ाये हैं। बिना सोचे-समझे पहला तरीका जो हमें नजर आता है, वह है क्रमशः प्रत्येक अध्याय का प्रत्येक बिन्दु पढ़ाना—हिन्दी में प्रत्येक कठिन शब्द समझाना, गणित में प्रत्येक सवाल कराना और सामाजिक ज्ञान में हर बात को समझाना।

जब हम हर शब्द का अर्थ बताते हैं, हर सवाल हल कराते हैं और हर बात समझाने की कोशिश करते हैं तो थोड़ी ही देर बाद हम थक जाते हैं। फिर चक्कर आने लगता है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर सोच में पड़ जाते हैं कि इस चाल से तो हम साल भर में आधा कोर्स भी नहीं करा पायेंगे।

तब हम दूसरा तरीका अपनाते हैं कि खुद ज्यादा समझाने की बजाय बच्चे से कहते हैं कि वह खुद पढ़े, वह खुद प्रश्न का उत्तर ढूंढें, वह खुद सवाल हल करे।

हम फिर हार जाते हैं। हम फिर थक जाते हैं। हम फिर पशोपेश में पड़ जाते हैं। बच्चा अब बायें देखता है, दायें देखता है और हार-थक कर हमारी ओर देखता है। हमने तय किया है कि हम बच्चे की मदद नहीं करेंगे। बच्चा खुद अपनी मदद करे यह सिद्धांत हमने अपनाया है। हम सिद्धांत से नहीं हटेंगे।

हम सिद्धांत से नहीं हटते। हम मदद नहीं करते। हम उसे स्वतः अपनी समस्या से आप लड़ने का मौका देते हैं।

समय बीतता है। पराकाष्ठा आती है। हम पुनर्विचार को बाध्य होते हैं।

परिणाम यह होता है कि अब हम जल्दी करना चाहते हैं इसलिए दो शब्द यहां बताते हैं, दो शब्द वहां बताते हैं और सारांश बताकर कहते हैं

दो सवाल यहां-वहां कराते हैं, दो-चार सवाल विद्यार्थी को खुद को करने को देते हैं और कहते हैं अध्याय पूरा हो गया। इतिहास, भूगोल, सामाजिक ज्ञान या रसायन विज्ञान में बच्चे को पूरा पाठ पढ़ने को कहकर, उसने पढ़ा या नहीं पढ़ा इसकी चिन्ता किये बिना, प्रश्नों के उत्तर लिखाने लग जाते हैं। प्रश्नों के उत्तर किसी ने समझे या नहीं समझे इसकी चिन्ता किए बिना घोषणा कर देते हैं कि पाठ पूरा हो गया।

सच्चाई कहां है? उपयुक्त विधि कौन-सी है? ज्यादा लाभ बालक को किससे है?

शिक्षक को थकाने वाली या बालक को थकाने वाली विधि तो कतई सफल नहीं हो सकती। लेकिन हार-थककर जिस विधि पर आप अन्त में पहुंचते हैं उसी पर थोड़ा ध्यान से विचार करें। क्या यही तो वैज्ञानिक विधि नहीं है?

शिक्षण प्रक्रिया का रहस्य इसी बिन्दु पर आपको प्राप्त होगा। फरक इतना ही है कि आप हार-थककर जहां पहुंचे हैं वहां प्रारम्भ में ही पूरे विश्वास के साथ पहुंच जाइए। हर शब्द या हर सवाल पर बल देने का लोभ छोड़ दीजिए। शुरू से अन्त तक निष्ठापूर्वक एक सीध में यात्रा करने की बजाय टटोलने का उपक्रम अपनाइए। आप टटोलिए, बालक भी टटोलेगा। पूरे पैरा को लीजिए, पूरे प्रकरण को लीजिए या पूरी कहानी को लीजिए। बीच-बीच में कुछ शब्द, कुछ वाक्य, कुछ सवाल विस्तार से विचार के लिए लीजिए—उनका अध्यापन कीजिए, उन्हें समझाइए और तेजी से आगे बढ़ जाइए। विद्यार्थी जल्दी आगे बढ़ेगा, ज्यादा तृप्ति पायेगा और मोटे-मोटे बिन्दुओं के सहारे एक मोटा चित्र पूरे पाठ का या अध्याय का उसके हाथ में आ जायेगा। अब उसकी ज्यादा रुचि है तो भी उसे यह संतोष तो जरूर होगा कि उसने कोई इकाई पूरी कर ली है और यह संतोष भी होगा कि आपने उसे थकाया नहीं है।

हम संसार की कोई भी चीज कभी पूरी नहीं देखते हैं। न शहर पूरा देखते हैं, न आदमी पूरा देखते हैं और न कोई भवन आद्योपांत देखते हैं। फिर क्यों आग्रह करें कि बालक पाठ्य-पुस्तक का कोना-कोना नाप ले?

मैं नहीं जानता कि क्या तरीका सही है किन्तु पढ़ने और पढ़ाने के आनन्द को मैं जरूर जानता हूं। शब्द के ध्वनि-विन्यास में भी मुझे आनंद है, अर्थ के गोपन रहस्यों के उद्घाटन की क्रिया में भी मुझे आनंद है और मोटी रूपरेखा में कथ्य को ग्रहण कर लेने के संतोष में भी मुझे आनन्द है।

बच्चे के साथ कोई सवाल करो, बच्चे के साथ किसी शब्द या वाक्य के व्युत्पत्तिपूर्ण रहस्यों की गहराई में उतर जाओ और बच्चे के साथ कुछ प्रश्नों के सही ढंग से उत्तर लिख सकने के अभ्यास का भी आनन्द ले लो। लेकिन ठहरो मत, रुको मत, आगे बढ़ो। बढ़ते रहो। बच्चे को यह प्रतीति हो कि आप मन

रहे हैं, कक्षा चल रही है, विद्यालय चल रहा है, घड़ी चल रही है, समय चल रहा है। गतिशीलता बिना प्रगति के कैसी ? पीरियड क्या है, समय का काल का— एक खण्ड ही तो है, कालांश! आपको जो समय मिला है उस पर विजय पाने के लिए जरूरी है कि आप उदास-निराश करने वाली विधि से दूर रहें। मानकर चलें कि कालांश में पाठांश ही पढ़ाना है, पूरा पाठ नहीं। पूरे पाठ की प्रतीति, तृप्ति भर उत्पन्न करती है। कालांश और पाठांश के समीकरण को समझिए, कालजयी बनिए।

शिक्षा-दर्शन का प्रणेता शिक्षक कब होगा ?

फिर शिक्षक-दिवस आया, और गुजर गया। लेकिन गए सालों की तरह इस बार यह इतना ठंडा नहीं गुजरा। जयपुर के रवीन्द्र मंच पर शिक्षक-दिवस समारोह में राज्य के शिक्षामंत्री ने शिक्षक-कर्मचारियों को हड़ताल न करने का उपदेश दिया तो माहौल में गर्मी यकायक बढ़ गयी, और फिर महीने भर अखबारों में शिक्षकों-पाठकों की एक पर एक जो चिट्ठियां शिक्षक-दिवस के सिलसिले में आने लगीं तो साफ लगा कि यह गरमाहट शायद यों ही गुजर जाने वाली नहीं है !

शिक्षक-दिवस। राज्य की ओर से 5 सितम्बर के दिन को शिक्षक-दिवस के रूप में मनाने की आज्ञा कई वर्ष पहले हुई थी। तब से हम उस आज्ञा को मानते आ रहे हैं।

आज्ञा मानने में हम सबसे आगे रहते हैं। 'जी-हां'-'जी-हां' कहते-कहते हम ऊपर चढ़ते रहते हैं। सबसे अच्छा शिक्षक, सबसे अच्छा शिक्षार्थी और सबसे अच्छा नागरिक वही है जो 'जी-हां'-'जी-हां' करे। हमने भी अच्छे शिक्षक के नाते राज्य की आज्ञा को 'जी-हां' कहा और हर वर्ष 5 सितम्बर को अपना *सम्मान कराने का काम शुरू कर दिया।*

शिक्षक-दिवस अभी गया है। शिक्षक-दिवस अगले वर्ष फिर आयेगा— हर वर्ष आयेगा। हम हर वर्ष भारत राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। अगले वर्ष और हर वर्ष करेंगे। भारत राज्य संघ के समस्त राज्यों में राज्यपाल, मुख्य-मन्त्री, शिक्षामन्त्री, शिक्षा सचिव, शिक्षा निदेशक आदि समस्त उच्च पदस्थ अधिकारी कुछ चुने हुए शिक्षकों को 'आज्ञा से' मालाएं पहनाकर (महिला शिक्षकों [illegible]) राजाज्ञा की अनुपालना हो गई [illegible]

किया कि नेताजी को पुजवाने के लिए नेताजी के कोई चमचे यह शगूफा तो न
छोड रहे हैं ? शिक्षकों मे जो ऊपर तक मुंह लगे थे, उन्होंने सोचा कि माला
पहनेंगे, रोकड रुपया लेंगे, समाज मे प्रतिष्ठा बढ़ेगी और तीन साल नौकरी
बढ़ेगी तो अपनी पूजा करवाने के कार्यक्रम में क्यों बाधा डालें, क्यों सवाल करे
उनसे जो नीचे थे उन्होंने सोचा—हर राज्य मे ऐसे कई शगूफे होते आए हैं, ए
यही सही। हमे क्या मतलब। अखबार सामान्यतः या तो सेठ-साहूकार चलाते
या राज्य के विज्ञापन, सो वे भी क्यों मगज लडाते। मौलिक सोचने वाले शिक्ष
मे से शैक्षिक पत्रकार उन्होंने तैयार किए होते तो वे बोलते कुछ। कोई कुछ न
बोला और राज्य जो बोला उसी को स्वीकार कर लिया। राज्य ने हम
शिक्षको और शिक्षाविदो को पहले ही गुलाम बना रखा था, इस
योजना के अन्तर्गत गुलामों की एक और नई कतार प्रतिवर्ष बाहर आने
गई। हर सम्मानित शिक्षक सत्ता के प्रति वफादारी की शपथ भले न खाता
लेकिन गद्गद् होकर, नतमस्तक होकर, पुरस्कार या सम्मान दिलाने वालो
प्रति कृतज्ञता ज्ञापन कर यह भरोसा तो दिला ही देता है कि सत्ता उस
भरोसा कर सकती है, अर्थात् यह मान सकती है कि यह शिक्षक सत्ता के उपक
के नीचे इतना दब जायेगा कि इसके अन्तस्तल मे विद्रोह या क्रान्ति का
अंकुर कभी स्वप्न मे नही फूटेगा।

हम कितने भोले शिक्षक हैं! सत्ता के इस षड्यन्त्र को हम पहचान ही
सके। राज्यपाल हमारा सम्मान करेगा, इस कल्पना मात्र से हम इतने फूल गए
जमीन से दो हाथ ऊपर उठ गए। विद्यालय मे बच्चो ने माला पहनाई तो स
के बीचो-बीच चलकर घर पहुचे और अपने परिवार वालों को गर्वोन्नत
पर पडी वह माला बता कर हर्षित किया। यह नही सोचा कि यह माला राज्य
ने नहीं पहनाई, बच्चों ने नही पहनाई थी, राज्य ने पहनाई थी, राज्य, जि
नागपाश से दूर रहकर ही शिक्षक सच्चा शिक्षक हो सकता है, साहित्य
सच्चा साहित्यकार हो सकता है, कवि सच्चा कवि हो सकता है, कलाकार स
कलाकार हो सकता है।

राधाकृष्णन् के दिन को 'शिक्षक-दिवस' कहकर हम कितना बड़ा
कर रहे हैं! राधाकृष्णन् ने कौन सा बड़ा योगदान दिया शिक्षा की धारा
मे? गीता की जो व्याख्या विनोबा ने की है उसके आगे राधाकृष्णन् की व्य
क्या कोई महत्त्व रखती है? किसने पढ़ा है उसे? कितनों ने अपनाया है
राधाकृष्णन् अजस्र ओजस्विनी वाणी मे बड़ी विद्वत्तापूर्ण वक्तृता जरूर दे सक
और इस कारण पंडिताई की धाक जमा सकते होंगे, दर्शन की चक्करदार ग
मे श्रोता को उलझाकर पटक देते होंगे, अच्छे विचारक या नये दर्शन के
होने का तो कोई प्रमाण आज तक हमें किसी ने नहीं दिया। मान लें कि

विलक्षण मेधा का प्रदर्शन करते हुए आपको घंटों मन्त्रमुग्ध करदे वह अच्छा शिक्षक होता है तो मान लेता हूं कि वे अच्छे शिक्षक थे, एक बार मैंने भी उनको सुना था। लेकिन हम शिक्षक-दिवस उनके इस शिक्षकत्व के कारण नही मनाते। इसलिए मनाते हैं कि वे राष्ट्रपति थे। इसलिए मनाते हैं कि दक्षिण के किसी मनीषी का उत्तर वाले आदर करें।

आदर हम सुब्रह्मण्य भारती का कम नही करते, त्यागराज का कम नहीं करते, शंकर कुरूप का कम नही करते, इनका भी कर लेते, किन्तु शिक्षक-दिवस हमने शिक्षक सम्मान में नहीं, राष्ट्रपति के सम्मान मे मनाना प्रारम्भ किया यह तथ्य हम भूल नही सकते। पाठकों से मेरी यहां एक विनय है। शायद यह तर्क रजनीश भी दे दिया करते हैं। लेकिन उनका तर्क कुतर्क है। शायद उन्ही के दिये कुतर्क का ही मैं यहां प्रयोग भी कर रहा हूं और इस कारण मैं उनका कृतज्ञ भी हूं (यदि वह मौलिक उपज उनकी है तो)। मैं जिस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान ले जाना चाहता हू वह है सत्ता और शिक्षक के रिश्तों का सवाल। सम्मान शिक्षक का हो इसमें कोई आपत्ति नही। लेकिन कौन करे? कैसे करे? कब करे?

मेरा वह लेख आपने शायद पढ़ा हो। जिसमें मैंने लिखा था कि 5 सितम्बर को तो हम शिक्षक का सम्मान करेंगे, लेकिन उसके ठीक पहले और उसके ठीक बाद हम उन्ही शिक्षकों को नाना तरह की यत्रणाएं देंगे। अविभक्त इकाई में तो किसी को फेल करने का नियम ही नही है। उसको पढ़ाने वाले शिक्षक के पिछले सभी वर्षों के परीक्षा परिणाम शत-प्रतिशत होंगे और जिसके छात्र बोर्ड की परीक्षा देते हैं अंग्रेजी मे या गणित में, उसके छात्रों का परीक्षा परिणाम प्रतिशत तो शत-प्रतिशत कदापि नहीं हो सकता। ऐसे ही राजकीय विद्यालय और प्राइवेट विद्यालय का वातावरण, चयन-विधि, नियुक्ति-विधि आदि मे भारी वैषम्य है. प्राइवेट वालों का स्थानांतरण ही नही होता। अब ये सब क्या तुलनीय हैं?

जब तुलनीय नही है तब आप तुलना कैसे करते है? पुरस्कार के लिए चयन कैसे करते हैं? किन विशेषताओं के कारण उन्हें सम्मानित करते है? वे विशेषताएं न सम्मानित होने वालों से श्रेष्ठ कैसे हुई? कितनी हुई? इसको क्या आप सोचते हैं? सोचते हैं तो शिक्षकों को और समाज के सामान्य नागरिकों को भी बताते है? क्या आप यह बता सकते हैं कि इनमे कौन शिक्षक निर्भीक है, स्वतन्त्रता प्रेमी है, राज्यसत्ता की नीतियों के विरोध में भी राय व्यक्त करने का हौसला रखता है, राज्य की शिक्षा-नीति को नई दिशा की ओर प्रवृत्त करने की क्षमता रखता है? प्रशस्तियों की पुस्तक में आज तक एक भी ऐसे किसी शिक्षक का उल्लेख हुआ है? 'नवाचार' आज का अखबारी 'नव विचार का आचरण' है। 'आचरण' तो दूर रहा 'नव विचार' के लिये कितने शिक्षकों को आगे आने को आमंत्रित किया है हमने? अखबार की

राज्यसत्ता को साहसी शिक्षकों की सत्ता स्वीकार करने की आदत डालने का अभ्यास करना होगा। राष्ट्रपति से जुड़े इस शिक्षक-दिवस के निर्जीव कर्मकाण्ड को बन्द कर सम्मान योग्य शिक्षक के विकसित होने का वातावरण बनाना होगा। सम्मान योग्य शिक्षक वही होगा जो सत्ता की सीमाओं व शक्तियों को समझेगा, सत्ता की गुलामी कभी स्वीकार नहीं करेगा और निर्भीक विचारशील, स्वतन्त्र-चेता, व्यक्ति के विकास का एक ऐसा सपना देखेगा जो सत्ता की ओर नहीं मनुष्य की ओर उन्मुख रहेगा, जो भौतिक (पूंजी) या राजनीतिक (राज्य) या आध्यात्मिक (धर्म) या प्रशासकीय (शासनतन्त्र) सत्ता के समाजोपयोगी स्वरूप का आवश्यक उपयोग तो करेगा किन्तु उसके दुरुपयोग के प्रति पूर्णतया सावधान रहेगा। जो सत्ता हमें मुक्त करने के लिए स्थापित की जाती है वही हमें गुलाम बना देती है, यह तथ्य शिक्षक याद नहीं रखेगा तो कौन रखेगा ? पैसा कम मिले चाहे ज्यादा मिले या चाहे मिले या नहीं, दुनिया में कोई शिक्षक ऐसा नहीं है जिसे सम्मान न मिलता हो। थोड़े ही समय के लिए हो किन्तु यदि आपने किसी को कोई काम सिखा दिया, कोई बात बतादी तो वह आपको जरूर याद रखेगा, आपका जरूर सम्मान करेगा।

शिक्षक को ऐसे वातावरण की जरूरत है जिसमें वह नये शिक्षा दर्शन का निर्माण कर सके। अभी अधिकांश शिक्षा प्रणाली आरोपित है। इसका जितना दोष राज्य या समाज पर है, उतना ही शिक्षक पर भी है। शिक्षा दर्शन का प्रणेता शिक्षक बन सके यह विश्वास अभी हमने शिक्षक को दिया ही नहीं है और न शिक्षक ने यह तय किया है कि वह भी कोई शिक्षा नीति दे सकता है, कोई नई प्रणाली सोच सकता है, कोई नया शिक्षा दर्शन दे सकता है। मैं तो कई बार यही सोचता हूं कि हमारे देश के शिक्षा दर्शन का प्रणेता शिक्षक कब बनेगा ?

शिक्षक जीवन सम्बन्धी साहित्य

आप शिक्षक और विद्यालय की समाज में क्या भूमिका मानते हैं इस पर कृपया गौर करें। आपकी मान्यता कैसे बनी इस पर भी कृपया विचार करें। मान्यता बनने के कुछ प्रमुख स्रोत ये हैं —1. बाल्यकाल में देखी गई दुनिया, 2 बाल्यकाल में प्रभावित करने वाले लोग जिनमें प्रायः गुरु प्रमुख होता है, 3 प्रौढ़ जीवन का अध्ययन। प्रौढ़ जीवन में असर कम पड़ता है इस कारण केवल अध्ययन ही सर्वाधिक प्रभावकारी स्रोत माना जा सकता है। आज आप शिक्षक या प्रधानाध्यापक या शिक्षाधिकारी के रूप में शिक्षा व शिक्षण संस्था के व्यवहार या स्वरूप पर जो कुछ भी राय रखते हैं वह आपकी मौलिक राय कदापि नहीं है। है तो [illegible] है। कारण यह कि बाल्यकाल में जो प्रभाव पड़ा वह आपने स्वीकार किया, राय बनाली। बार-बार राय बनाने की झंझट कौन मोल ले। यदि आप राय बनाने की इच्छा रखते हैं तो आपको पढ़ना होगा, सोचना होगा।

शिक्षक के जीवन को लेकर अमर साहित्य में क्या उपलब्ध है इसकी कृपया खोज करें। टैगोर, प्रेमचन्द, सुदर्शन, यशपाल का साहित्य टटोलें — शिक्षक के घर, विद्यालय, समाज व शिक्षा से संबंधों पर क्या-क्या लिखा गया है ढूँढें। आप कक्षा में और घर में और समाज में जो देखते हैं, अनुभव करते हैं, उसका प्रतिबिम्ब [illegible] कहीं मिल जाए। जो सहज, जो विचारपूर्ण था, [illegible] की सीख पर अनुभव करते हुए भी हम व्यक्त न कर पाते हों वह प्रायः हमारी रुचि की रचनाओं में हम पा लेते हैं। वे हमारी रुचि की रचनाएं बनती ही इसीलिए हैं कि हमारे मन की [illegible] से सब ठीक मालूम होता है वह इन रचनाओं से हमें परिमाण [illegible]

व्यावसायिक जीवन (विद्यार्थी, विद्यालय, अध्यापन, शैक्षिक आदर्श आदि) का पुनर्मूल्यांकन करने में मदद देने वाली कई कृतियां विश्व साहित्य में उपलब्ध हैं। 'गट्र्ड टीचेज हर चिल्ड्रन' की चर्चा आपने प्रशिक्षण विद्यालयों-महाविद्यालयों में बहुत पढ़ी होगी लेकिन शायद आप में से दो प्रतिशत ने भी उस पुस्तक के खुद के दर्शन कभी नहीं किये होंगे। उस पुस्तक को पढ़ने वालों का प्रतिशत तो दशमलव से जाने कितना दूर चला जायेगा। शिविरा के एक अंक में 'गिजुभाई की डायरी' उपलब्ध होने का उल्लेख था। लेकिन मुझे आज जो रचनाएं आपके ध्यान में लाने की इच्छा हो रही है वे इनमें कुछ भिन्न हैं। वे शुद्ध साहित्यिक रचनाएं हैं। बिल्कुल समसामयिक भी और पुरानी भी।

समसामयिक साहित्य में हृदयेश का उपन्यास 'साड' और उनकी कुछ कहानियां, 'उत्तराधिकारी' नाम के कहानी संग्रह से और जॉन अपडाइक का उपन्यास 'द सेंटोर', तथा कुछ पुराने में चंगेज आइत्मातोव की कहानी 'दुइशेन' ले सकते हैं। 'दुइशेन' कहानी पर 'पहला शिक्षक' नाम से जो फिल्म बनी वह बहुत लोकप्रिय हुई। 'द सेंटोर' पर भी शायद फिल्म बन चुकी है। ठीक से याद नहीं। 'साड' पर भी फिल्म बन सकती है यदि श्याम बेनेगल या अपर्णासेन जैसे संवेदनशील और मजबूत हाथों से वह निर्देशित हो, निर्मित हो। 'मजबूत' हाथ कहने का कारण यह कि सच्चाई की अभिव्यक्ति जब कसौटी पर चढ़ जाती है तब वह ढीले या नरम हाथों से संचालित नहीं हो सकती है। ईमानदारी से सच्चाई को अभिव्यक्त करने के लिए दृढ़ संकल्प जरूरी होता है। कलात्मक दृष्टि होते हुए भी यदि यथार्थ की बारीकियों को दृढ़ता से अभिव्यक्त न किया जा सके तो विषय की आत्मा अव्यक्त ही रह जायेगी। ज्यादातर व्यावसायिक निर्देशकों-निर्माताओं के हाथों में अमर रचनाओं का भी इसी कारण बहुत बुरा हाल हो जाता है।

साहित्य में शिक्षक के जीवन के दोनों भाग अभिव्यक्त हुए हैं। जॉन अपडाइक के उपन्यास 'द सेंटोर' में काल्डवेल नामक शिक्षक के व्यावसायिक जगत का चित्रण तो है, किन्तु मुख्यता उसके घर, उसकी गरीबी और आर्थिक रूप से उसकी टूटन को मिली है। आइत्मातोव की 'दुइशेन' कहानी में दुइशेन नामक शिक्षक की कथा है जिसने एक किरगीज गांव के बच्चों को साठ वर्ष पहले सर्वप्रथम शिक्षक के रूप में क ख ग पढ़ाया था, जिसने चौदह साल की एक अध्ययनशील लड़की को जबरन ब्याह दिये जाने से बचाया था और ऐसा करने में जो मरता-मरता बचा था और जिसके प्रयत्नों से गांव का प्राथमिक विद्यालय आज माध्यमिक विद्यालय बन रहा है, वही लड़की बड़ी होकर देश की विज्ञान परिषद की सदस्य बन गई है, अकादमीशियन के रूप में उद्घाटन करने आई है, लेकिन दुइशेन को कौन पूछता है? दुइशेन बूढ़ा हो गया है। गांव का पोस्टमैन बन गया है। इस उद्घाटन समारोह के लिए बधाई के तार पहुंचाने के लिए वह घोड़े को एड मारता भगाता हुआ विद्यालय के

द्वार तक आ जाता है। गोवता था मंच पर खड़ा होकर वह स्वयं ये सारे बधाई के तार पढ़ेगा। किन्तु पहुंचकर वह अंदर नहीं जाता, एक बालक के हाथ तार अंदर भिजवा देता है। भीतर एक आदमी कहता है दुइशेन को भीतर बुला लेना चाहिए। दूसरा कहता है बुड्ढों की संगत करके क्या कीजिएगा, तीसरा मसखरी करता हुआ आंख मिचकाकर कहता है कि हां, हम कभी उसके शिष्य थे, दुइशेन स्कूल में पढ़ते थे, *किन्तु उसको तो खुद को ही कभी पूरी बारखड़ी नहीं आई। और शराब के* जाम टकराये और उस हो-हो में भी कोई यह भी कहता रहा कि बारखड़ी जैसी भी जानता था हम उनके पास पूरी गंभीरता से बैठते थे। उन्होंने हमारे लिए क्या-क्या नहीं किया? हमें उनका मखौल नहीं उड़ाना चाहिए।

पाठक याद करें हम काल्डवेल की तरह घर में कितना टूटते हैं, दुइशेन की तरह अपनी ही मेहनत से खड़े किये गये प्रोन्नत विद्यालय में कितने बेइज्जत होते हैं? माध्यमिक या उ. मा. विद्यालय का नया प्रधानाध्यापक क्या उस *प्रधानाध्यापक का समुचित सम्मान करता है जिसने तपस्वी के रूप में खेत-खेत,* गांव-गांव, दुकान-दुकान घूमकर चंदा किया और भवन बनाया और अपनी मौत आप बुलाई? *नया प्रधानाध्यापक उसे प्राथमिक खंड मे डाल देता है और उसकी* गंभीरता, निष्ठा की खिल्ली उड़ाता है। देखें, कितने दुइशेन हैं, कितने काल्डवेल हैं, हमारे आसपास और कितने सांड हैं हमारी इस शिक्षा-व्यवस्था मे, समाज-व्यवस्था मे। महान् लेखकों की रचनाओं मे यदि हमें अपने शिक्षक के जीवन की झलक मिलती है तो हमे उसका जरूर लाभ लेना चाहिए। हृदयेश की कहानी 'नये अभिमन्यु' में शिक्षक दब्बू बना मकान मालिक के अत्याचार सहन करता रहता है किन्तु उसका पुत्र घर आता है तो एक झटके में बाप का इतिहास बदल देता है, वह नियति का नियंत्रण मकान मालिक के हाथ मे न छोड़ अपने हाथ में ले लेता है। अपडाइक का उपन्यास भी मनुष्य मे आस्था और आशा जगाता है। पिता के सारे कृत्य कितने ही अलाभकारी क्यो न हों, समवयस्क युवजन गुंडागर्दी की ओर कितना ही आकर्षित क्यों न करते हो, काल्डवेल का पुत्र पीटर पिता के आत्म-त्याग, ईमानदारी और सच्चाई के लिए संघर्ष के महत्व को पहचान जाता है और पिता के साथ रहता है। 'द सेंटोर' मानवी पीड़ा का महान् दस्तावेज है। बूर्जुआ समाज मे *शिक्षक की पीड़ा का चरम बिन्दु है। क्या हम अपडाइक और आइत्मातोव और* हृदयेश आदि की शिक्षक जीवन संबंधी कृतियो को पढ़ेंगे? उसका विश्लेषण करेंगे? *अपने जीवन से उनकी तुलना करेंगे? साहित्य हमारे जीवन को उन्नत करता है,* हमारे चरित्र को उदात्त बनाता है। शिक्षक जीवन से संबंधित साहित्य तो हमें और *भी शीघ्रउन्नत और भी अधिक उदात्त बनाएगा।*

बेल-बूटेदार अभिलेख मत देखिए– विद्यालय देखिए

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर होने वाले अपव्यय या अपक्षरण (ड्रॉपआउट, छात्र-छात्राओं का स्कूल छोड जाना) से बहुत चिंतित है। हाल ही मे मन्त्रालय द्वारा बताये गये आकडो के अनुसार प्राथमिक स्तर पर अपक्षरण 63 प्रतिशत तथा माध्यमिक स्तर पर 77 प्रतिशत है। हरिनंदन मिश्र के एक अनुसधान के अनुसार पिछड़ी जाति के बालकों की अपक्षरण की दर 82 प्रतिशत थी। केन्द्रीय सरकार ने इतनी बड़ी सख्या मे विद्यार्थियो द्वारा स्कूल छोड़ने का कारण राज्य सरकारो द्वारा निर्मित 'ज्ञान केंद्रित किताबी पाठ्यक्रम' ठहराया है। स्टेट्समैन (25 फरवरी, 82) ने अपने सपादकीय मे भारत सरकार के इस तर्क को स्वीकार नही करके कहा है कि मुख्य कारण पाठ्यक्रम नही, गरीबी है।

एक तरफ यह हाल है। दूसरी तरफ राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसधान व प्रशिक्षण परिषद, नयी दिल्ली ने पिछले दिनो प्रकाशित पुस्तक "सृजनशीलता अनुसंधान एक अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य" मे कहा है कि सामान्य रूप से शिक्षकगण सृजनशीलता को दण्डित करते हैं और गतानुगतिका को प्रोत्साहित करते हैं। भारत के बाहर विस्तृत क्षेत्र मे हुए इस अनुसधान का उद्देश्य आदर्श विद्यार्थी के बारे में शिक्षकों की दृष्टि ज्ञात करना था। दृष्टि यही निकली कि सृजनशीलता उन्हें फूटी आखो नहीं सुहाती। आख मूद कर जो लेता रहे वही विद्यार्थी उन्हें ज्यादा पसन्द है। (देखें, इडियन एक्सप्रेस 18 फरवरी, 82; पृ. 4)।

इन दोनो तथ्यों का विद्यालयों पर कोई असर पड़ता है? क्या कभी वे नई दृष्टि और आकर्षण पैदा करते है? हमने तो पाया है कि कुछ लोग अभिलेख रखने की कला मे ज्यादा प्रवीण होते हैं। उसी पर जोर देते हैं। मात्र उन्हीं के बल पर वे आगे भी बढ़ जाते हैं। एक विद्यालय मे एक शिक्षक की रगो का सदैव बोध बहुत ऊचे दर्जे का था। एक प्रधानाचार्य ने उसका उपयोग शुरू किया। समस्त

अभिलेखों को रंग-बिरंगे बेल-बूटों में सजाकर पूरे विद्यालय की दीवारो प्रदर्शनी लगाना शुरू कर दिया। एक नहीं, कई तरह के समय-विभाग- बनाये जाते, विद्यालय के प्रगति के सूचक अनेक चार्ट बनते, और सब दीवारों चढ़ जाते। उनको देखकर कोई भी अधिकारी दूसरे विद्यालय को इससे अच्छा ब ही नहीं सकता था। कई प्रधानाचार्य आये, सभी वाहवाही ले गये। संयोग की बा एक रोज एक भिन्न किस्म के अधिकारी आये, उनको भी वे मुर्रे-मुर्रे आकर्षक अभिलेख दिखाये गये। वे भी स्तंभित हुए। लेकिन क्षणभर में सम्भ गये। प्रधानाचार्य से बोले—आप मुझे यह रंगीन बेलबूटेदार अभिलेखों की प्रदर्शनी ही दिखायेंगे, जो अकेले एक ड्राइंग टीचर की करामात है, या कुछ और भी दिखायेंगे?

प्रधानाचार्यजी सकपकाये। अधिकारीजी को अब और क्या दिखायें? विवश हो उन्हें कक्षाओं में ले जाना पड़ा। कक्षाओं में वे बैठ गये। विद्यार्थियों से बात की। शिक्षकों से भी बात की। प्रधानाचार्यजी को कोई ऐसा काम सौंप दिया कि उनको अपने कार्यालय में जा दस वर्ष पुरानी फाइलों में उलझ जाना पड़ा। इधर उन्होंने पुस्तकालय में प्रधानाचार्यजी व अध्यापकों के खाते भी देख लिए, गहरी पूछताछ भी कर ली। पूरे विद्यालय में घूमकर वापस आए तो प्रधानाचार्यजी को सलाह दी कि अभिलेखों की सजावट के पीछे दीवाने होने में विद्यालय का पूरा या कोई विशेष हित नहीं है, कागजों में विद्यालय का सही स्वरूप कैसे उभर आ सकता है? इनमें कहाँ लिखा है कि कुछ शिक्षकों को बच्चों को पीटने का बहुत खतरनाक रोग है? इनमें यह कहाँ लिखा है कि वाचनालय केवल प्रधानाचार्य व उनके निकटस्थ एक-दो शिक्षकों के लिए तथा पुस्तकालय केवल प्रधानाचार्य व शिक्षकों की संतान के लिए खुला था? बाल साहित्य या किशोर साहित्य कम तथा शिक्षकों को परीक्षाओं में दिलाने वाली पुस्तकें ज्यादा खरीदी जाती थीं। [illegible] के कारण खरीदी गई कुछ पुस्तकें भी बार-बार दी गयी थीं जब कि बिना शिक्षण या शिक्षा दर्शन या समाज व शिक्षा के सम्बन्धों पर या शिक्षा की प्रक्रिया और बाल हृदय की गहराइयों पर [illegible] की [illegible] या अभाव [illegible] परिणाम में उपलब्ध था। न नये उपकरण थे न नई विधियाँ। न नये चार्ट थे न मैप। न [illegible] की न सामग्री, न उसके अनुरूप वातावरण।

कक्षा में जो पढ़ाया जा रहा था वह मामला कैसे विद्यार्थियों को नहीं [illegible] ग्रहण किसी और [illegible] के अपना कर मर्जी से करके पढ़ाया जा रहा है। [illegible] का भी [illegible] नहीं [illegible]। [illegible]

क्या शिक्षण हुआ, उसमें विद्यार्थी कितना जुड़ा था यह देखने की जरूरत ही नहीं समझी गई थी। शिक्षक ने किस पद्धति से क्या जाना, क्या देखा, कितना काम किस लक्ष्य से कराया, यह कुछ भी देखने व जानने की फुरसत प्रधानाचार्य को नहीं थी। इस विषय पर वे शिक्षकों से कभी बात नहीं करते थे।

प्रधानाचार्य को दो-तीन शिक्षकों ने घेर रखा था। खुद भी खुशामदी और वे भी खुशामदी। उस पिंजरे में बन्द रहना ही उन्हें प्रिय था। पचास-साठ शिक्षकों के स्टाफ में और भी कई शिक्षक सम्पर्क काबिल हो सकते थे लेकिन जिन चतुर शिक्षकों से वे घिरे रहते थे उन्होंने यह विश्वास दिला दिया था कि अन्य शिक्षक सड़े-गले स्वभाव के, अन्यायी और अज्ञानी हैं। लेकिन उस अधिकारी ने तीन दिन तक जिस अनरसता से ये बात की उससे यह प्रकट हुआ कि उनमें कई शिक्षक अच्छे साहित्य प्रेमी, शिक्षा प्रेमी, सज्जनता की प्रतिमूर्ति, राजनीति की पुख्ता समझ वाले, धर्म-दर्शन के ज्ञाता, कृषि के पंडित, कृषकों के जीवन का गहरा ज्ञान रखने वाले, गली-कूचों के किस्से-कहानियों के जानकार व जनक थे। केवल अधिकारी के ही अस्तित्व में विश्वास करने वाले सरकारी नौकर को इन सहयोगियों के अस्तित्व का भला भान कैसे होता? यह अधिकारी भी प्रधानाचार्य के मोदरेक मर्यादित सदाबहार काजू-किशमिश खाकर चला गया होता तो इस भाव-अभाव दोनों का उद्घाटन कौन करता? प्रधानाचार्य और उसको घेरे रहने वाले अध्यापकों का दुर्भाग्य यही था कि एक अधिकारी उस विद्यालय में आया था जो वास्तविकता को समझने में रुचि रखता था, खुशामद-पसन्द नहीं था, तड़क-भड़क और टीप-टाप से ठगा नहीं जा सकता था।

जो बात अधिकारी ने कही, वही बात शिक्षक और विद्यार्थी भी कह सकते हैं, लेकिन प्रधानाचार्य विद्यालय को प्रायः अपनी जागीर समझता है। उसके लिए तो उच्च अधिकारी ही खुदा है। वह भला शिक्षकों व विद्यार्थियों की बात ही क्यों सुनेगा? सुनेगा भी तो अनसुना कर देगा। उसको अपना सिक्का जमाना है, प्रोमोशन पाना है, राज्यस्तरीय या राष्ट्रस्तरीय शिक्षक पुरस्कार भी पाना है। इसलिए वह विद्यालय में नहीं बैठेगा। परीक्षाएं पास हैं तो भी जि. शि. अधिकारी की सेवा में, उपनिदेशक की सेवा में, जो आयेगा 'ऊपर' से उसी की सेवा में, डोलता फिरेगा। यह उसके दिमाग में कभी नहीं आता कि विद्यार्थी के विकास को प्राथमिकता देना उसका पहला कर्तव्य है। जिस दिन वह विद्यार्थी के विकास को प्राथमिकता देगा उस दिन वह कागजी अभिलेखों पर बेलबूटे बनाने की बजाए हर शिक्षक व हर विद्यार्थी से अपना अंतर्-सम्बन्ध बनायेगा और अपने विद्यालय में कोई ऐसा काम नहीं होने देगा जिसमें लूटखसोट, छल-कपट या कृत्रिमता का भाव हो। तभी वातावरण बनेगा, बच्चों के निजी कामों की क्षमता बढ़ेगी और सृजन-शीलता के मन की भी वृद्धि होगी।

अनुशासन-प्रशासन और शिक्षा

शिक्षा संस्थाओं में संस्था-प्रधान खुश कब रहता है, यह भी अध्ययन का एक रोचक विषय है। संस्था-प्रधान होते ही उसके व्यवहार में अपना एक अलग तरह का डिजाइन या पैटर्न बन जायेगा। वह किसी और लोक का प्राणी हो जायेगा। संवाद में असहज हो जायेगा। सीधे सामने देखकर बात नहीं करेगा। आप उसे जिस बिन्दु पर खड़ा करना चाहते हैं उस बिन्दु पर वह पांव टिकायेगा ही नहीं। उछलकर किसी और बिन्दु को पकड़ लेगा। आप पहले बिन्दु पर उसे लाने की कोशिश करेंगे तो वह तीसरा बिन्दु पकड़ लेगा। सीधे संवाद करके समुपस्थित समस्या के भीतर झांकने में आपकी मदद करने में उसे हल्कापन लगता है, उसका प्रभामंडल (रौब) खंडित होने का भय हरदम उसे दबोचे रहता है। वह आप पर नाराज होता है तो समझलो वह बहादुर नहीं है, सशक्त नहीं है, बल्कि अशक्त होने के कारण प्रभामंडल खंडित होने की आशंका से भय खाता है। संवाद सही पटरी पर चलने से पहले ही वह आप में कोई अवगुण, अभाव या त्रुटि ढूंढ़ लेगा और आपको खिन्न कर देगा। आपका सारा उत्साह काफूर हो जायेगा। अब ही-ही करके या तो आप उसके दरबारी बन जाइए या अपराध-भाव से उतरा हुआ चेहरा लेकर वहां से चलते बनिए। हो गया संवाद और हो गया काम।

जलील करना जन्मसिद्ध अधिकार

संस्था-प्रधान जब अपने 'चैम्बर' में (दूसरों का कमरा है, उसका 'चैम्बर' होता है) गद्देदार हत्थेदार कुर्सी में धंसा हुआ होता है तब वह क्या सोचता है? यही कि [illegible] वह अपराध-भाव से ग्रस्त है। दो लोगों पर उसकी विशेष नजर होती है — विद्यार्थी व शिक्षक पर। शिक्षकों को वह इस 'विशेष' नजर से [illegible] रखता

[illegible] तक वे ही अपना

[illegible] आती हो, क्या

[illegible]

लिया और संस्था प्रधान की सिट्टी-पिट्टी गुम। फिर भले वह उस बहाने पूरे बाजार का चक्कर ही क्यो नहीं लगाता फिरे, आज का गया कल ही क्यो नहीं आये। आपको क्या पता ट्रेजरी मे किसका कौन सा बिल पडा हुआ है? मैडिकल, टी.ए., वेतन-वृद्धि, एरियर, एडवांसी, आदि अनेक होते हैं। फिर उनके ऑब्जेक्शन दूर कराने है, बैंक से भुगतान लाना है। शिक्षक और विद्यार्थी को कार्य हो तो वह विश्वसनीय नहीं है, आवश्यक नहीं है। आपको कक्षा के बाहर देख लिया तो आपकी शामत है। संस्था-प्रधान का यह अधिकार है कि वह आपसे सफाई मांगे और आप सफाई देना शुरू करें उससे पहले ही डाट-फटकार भी शुरू करदे। आपको जलील करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। वह आपको जलील नहीं करेगा तब तक उसकी संस्था मे अनुशासन नहीं आयेगा। अनुशासन तभी आता है जब प्रशासन पक्का हो। प्रशासन तभी पक्का होता है जब बोलने का और उचित-अनुचित के ज्ञान का संपूर्ण अधिकार संस्था-प्रधान अपने लिए सुरक्षित रखता है। उसका काम हर विद्यार्थी और हर शिक्षक को कक्षा मे डाल देना मात्र है। उसका काम यह देखना भर है कि विद्यालय भवन मे कोई घूमता नजर नहीं आये, कहीं कोई आवाज नहीं हो।

वह जो सोचता है वही सही है

शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक और विद्यार्थी की भी समान भागीदारी है, यह वह कभी नहीं सोचता। विद्यालय समाज का प्रतिरूप है इस कारण जनतंत्र, समानता, स्वतंत्रता और व्यक्ति की गरिमा जैसे तत्वों के विकास का उत्तरदायित्व भी इसके ऊपर [illegible] है, पर भी वह कभी नहीं सोचता। अपने 'चैम्बर' में बैठा हुआ वह यही सोचता है कि वह जो सोचता है वही सही है। किसी शिक्षक से कोई परामर्श लेने की आवश्यकता नहीं है। किसी विद्यार्थी को स्वयं [illegible] से अपना निर्णय लेने का अभ्यास करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों अपना कर्तव्य जानते हैं, ऐसे अपना उत्तरदायित्व जानते हैं, [illegible]

व्यावहारिक और मानवीय है इसे समझने के लिए संवाद नहीं करेगा। स
प्रधान की एक सबसे बड़ी भ्रान्ति यह होती है कि वह एक अधिकारी है, अधिन
है। एक अधिनायक के सिवाय उसको अन्य कोई मॉडल पसन्द ही नहीं आता
उसने जो नहीं पढ़ा है, नहीं सुना है। उसे वह अपने शिक्षक के सहारे जानने
कष्ट कभी नहीं करेगा। तब शिक्षार्थी से जानने की तो बात ही नहीं है।
संवाद कैसे हो ?

फरमाबरदार दासानुदास

मेरे एक प्रिय शिक्षाविद् ने अपनी पुस्तक "एज्यूकेशन फॉर फिजि
काशसनेस' में कहा है—"मानव समाज की सेवा करने वाला सच्चा मानव
किसी भी नाम से जोर-जबर्दस्ती (मेनिपुलेशन) को स्वीकार नहीं कर सकता
मानववाद के लिए संवाद के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।" किसने लिखी है
पुस्तक? आप शिक्षक हैं, शिक्षाधिकारी हैं या संस्था-प्रधान या विभाग प्रधा
या विभाग के सचिव, आयुक्त, या कि मंत्री हैं तो आपको यह पुस्तक जरूर पढ़
चाहिए। पुस्तक का नाम मैंने बताया, लेखक-प्रकाशक का नाम आप जान क
और पढ़ें। शिक्षा में संवाद की महत्ता को समझना बहुत जरूरी है। शिक्षा जग
के पूरे सिस्टम में संवादहीनता आज भी बदस्तूर जारी है। संवाद और आजादी
का मेल भी नहीं है यहाँ।

शिक्षक और शिक्षाधिकारी और स्वयं संस्था प्रधान को भी [illegible]
गुलाम की तरह आदेश पालन करना पड़ता है। क्योंकि आदेश देने वाला कभी
यह मौका नहीं देता कि नीचे वाला स्वतंत्र रूप से क्या सोचता है, वह क्या कहे।
क्या किया जाये सुझाव देने की आजादी देने का सवाल कौन उठाये। सिद्धान्त रूप
से स्वीकार करके [illegible]
लेकिन अभिव्यक्ति की आजादी का नारा देने से हम अधिनायक बन बैठे, ऐसे
अवसर किसी को कि हम [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

स्कूल में और क्या होता है ? यही न कि एक-दूसरे को देखें और सीखें। शिक्षक सुझाव देते हैं, अपनी राय देते हैं। शिक्षक जिसकी सराहना करते हैं या जिसकी आलोचना करते हैं उस पर विद्यार्थियों की जरूर नजर रहती है और उसका उन पर जरूर प्रभाव पड़ता है। कभी कम, कभी ज्यादा। कभी उल्टा, कभी सीधा। शिक्षक यदि विद्यार्थी से आगे भागता है तो उसकी उल्टी प्रतिक्रिया भी हो सकती है। शिक्षक यदि साथ चलता है तो उसका सही प्रभाव भी पड़ सकता है। किसी बात का प्रभाव आज पड़ता है, किसी का काफी समय बाद भी पड़ सकता है, किसी का शायद कभी न पड़े। जो शिक्षक या मां-बाप आज ही प्रभाव देखने की आतुरता व्यक्त करने लगते हैं उन्हें प्रायः निराशा मिलती है, खीज होती है। वे अपना दोष नहीं देखते, बच्चे पर ही सारा दोष मढ़ देते हैं। जो शिक्षक या मां-बाप अपने आपको श्रेष्ठ साबित करने की महत्वाकांक्षा रखते हैं वे श्रीमती तेजी बच्चन की तरह भूल जाते हैं कि बच्चे अनेक अन्य दिशाओं से भी प्रभाव ग्रहण कर सकते हैं, करते हैं।

मैं यह नहीं कहता कि अमिताभ पर उसके पिता का, जो एक प्रसिद्ध कवि हैं, या उसकी माता का जो एक सुघड़ सद्गृहिणी हैं, कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाव तो हर वातावरण और हर व्यक्ति का पड़ता है। घर और स्कूल और पास-पड़ोस और संगी-साथियों का सबसे ज्यादा पड़ता है। इसके अलावा प्रभाव व्यक्ति के अपने अध्ययन, चिंतन-मनन और [illegible] का भी कम नहीं पड़ता। दूसरी ओर समाज का, देश का और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का तथा समाचार-पत्रों या पत्रिकाओं का भी प्रभाव पड़ता है। आर्थिक प्रभाव भी प्रबल होता है। अभाव का प्रभाव भी कम नहीं होता।

शिक्षक भी कई बार (श्रीमती तेजी बच्चन की तरह) दावा किया करते हैं कि अमुक बच्चे को मैंने पढ़ाया था, देखो वह आई. ए. एस. बन गया, मंत्री बन गया, उद्योगपति बन गया, आदि। और यों कहकर वे [illegible] राष्ट्र निर्माता का खिताब ओढ़ लेते हैं।

पता नहीं आप क्या सोचते हैं, किन्तु जरा विचार कीजिए। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि अमिताभ की मां का दावा एकांगी है? क्या आपको ऐसा नहीं लगता कभी कभी कि शिक्षक द्वारा अपने आपको राष्ट्र निर्माता कहलाने को उत्सुक होना अतिरंजित है? [illegible] भी [illegible] जो [illegible] है, [illegible] विचार का प्रभाव ग्रहण करता है और [illegible] के बीच से [illegible] को [illegible] बनता है।

[illegible]

मूल्य क्या है ? आप उस पूरे इंटरव्यू को पढ़ जाइये, उसमें जया (भादुड़ी) का कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। जया की कलात्मक अभिव्यक्ति में कितनी शक्ति है यह फिल्में देखने वाले सहृदय दर्शकों को कोई पूछे। जिसके चेहरे ने लाखों-करोड़ों हृदयों में इतनी शांति, स्नेह और सद्‌भाव के भाव जागृत किये हों वह अमिताभ के जीवन निर्माण में कोई भूमिका नहीं रखती, यह कोई कैसे मानेगा ? कई मित्र हैं, कई सम्बन्धी हैं, पूरा परिवेश है। मां का ही प्रभाव होना था तो अजिताभ पीछे क्यों रह गया ? जाहिर है, सारी संतानें, संतानें ही क्यों सारी प्रतिभाएं भी, कभी एक-सी विकसित नहीं होतीं।

अपने बच्चे या अपने शिष्य के विकास में हमारी भूमिका का जब हम निर्णय करें तब हमें श्रीमती तेजी की इस एकांगी दृष्टि को जरूर याद रखना होगा। अनेक मांएं और अनेक शिक्षक इस एकांगी दृष्टिकोण के शिकार प्राय: हो जाते हैं। सफलता के मानदण्ड भी इसी कारण गलत सिद्ध हो जाते हैं। दुनिया में ऐश्वर्य ही सब कुछ नहीं है। प्रतिभा का विकास तो जरूरी है किन्तु उसके लिए रात को सोने से पहले पिताजी के पैर छूना पहली शर्त नहीं है। पैर छूना या प्रणाम करना या आदर रखना विनय लाता है, दो पीढ़ियों को संग्रंथित रखता है, यह तो ठीक है, किन्तु आदर जितना मां का हो उतना ही आदर पत्नी का, प्रेमिका का, पड़ोसी का या अनजान प्राणी का भी हो सकता है, होना चाहिए। जितना मां-बाप से या शिक्षक से बालक सीखता है उतना ही उसे हर प्राणी से सीखने को तत्पर रहना चाहिए। सच्ची समाज रचना तभी होगी। परिवार समाज का पहला सोपान है। विद्यालय भी एक सोपान ही है। और भी कई सोपान होते हैं इस मनुष्य चरित मानस में। उनके लिए ज्ञानेन्द्रियों को खुली रखने की शिक्षा ही सही शिक्षा है। क्या आप ऐसा नहीं सोचते ?

शैक्षिक यात्राओं पर कुतुब का प्रश्नचिन्ह

कुतुबमीनार को देखने गये यात्रियों में से पैंतालीस यात्रियों की मृत्यु हो गयी। कहते हैं लड़कियों या औरतों से छेड़खानी करने को किसी ने बत्ती गुल की। छेड़खानी के जवाब में हाथापाई हुई। हाथापाई करते-करते किसी का संतुलन बिगड़ा और वह पिछले लोगों पर गिरा। पिछले अपने से पिछलों पर और जो सिलसिला चला वह पूरी कुतुब की सीढ़ियों पर चढ़ रहे सैंकड़ों यात्रियों पर से गुजर गया। दबकर दमघुटकर या ऊपर से गिरती चली आती मानव देहों के नीचे पिस कई बच्चे-बच्चियों, पुरुषों और महिलाओं की जानें चली गईं। और सबसे ज्यादा दर्दनाक तथ्य यह है कि इनमें इक्कीस विद्यार्थी थे जो हरियाणा के स्कूल-कालेजों से आये थे। विद्यार्थियों के साथ गये शिक्षकों में से जो शिक्षक कुतुब के बाहर नीचे ही था और जिसने अपने हाथों अपने बच्चों की लाशें कुतुब से खींच-खींच कर निकाली थी उसके दिल पर क्या बीती होगी?

कुतुब की दुर्घटना के दूसरे ही दिन खबर आई कि अहमदाबाद में 'हिमालय दर्शन' नाम से जो नकली हिमालय लकड़ी व कपड़े की सहायता से खड़ा किया गया था उसमें बिजली की गड़बड़ी से आग लग गई और पचास-साठ आदमी-औरतें जलकर खाक हो गये। सैंकड़ों जख्मी भी हुए।

कुंभ के मेले में भगदड़ मची तब सैंकड़ों मरे थे यह आपको याद ही होगा। कुंभ, कुतुब और अहमदाबाद की घटनाएं बताती हैं कि भीड़ भी इन मौतों का एक बड़ा कारण है। भीड़ में आदमी का अपने पर काबू नहीं रहता है। न अक्ल काम करती है न शरीर काम करता है।

हमारे शिक्षक इस भीड़ को बढ़ाने वाले कार्यक्रमों को रोकने का कोई उपाय करेंगे? आजकल तो शिक्षा-संस्थाओं में बारहवों मास भीड़मूलक-भीड़वर्द्धक कार्यक्रम होते हैं। पढ़ाई-लिखाई तो लगता है बिल्कुल बन्द हो गयी है। पन्द्रह ... में या छब्बीस जनवरी की भीड़ में सबसे बड़ा भाग विद्यार्थियों

ब्दिक अर्थ ही 'भीड़' है। स्काउटिंग-गाईडिंग वाले रैली पर अर्थात भीड़ पर नाज करते हैं। विद्यालय भी प्रार्थना सभा के नाम पर भीड़ इकट्ठी करता है। कक्षा में कोई सीधा जाकर पढ़ाई आरम्भ करे यह हमें पसंद नहीं। भीड़ ही हमारी शक्ति है। हमारे प्रधानाध्यापक जितनी बड़ी 'स्कूल असेम्बली' को सम्बोधन करते हैं उतनी ही ज्यादा गरिमा से वे भीतर फूलते हैं। राजनेता को भी कदम-कदम पर भीड़ चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा वालों को भी नहीं छोड़ा। संजय-राजीव आयें तो भीड़, राज्यपाल आयें तो भीड़, नैतिक शिक्षा, का सरदारशहर में या 'कौमी एकता' का गोविन्दगढ़ में उद्घाटन हो तो भीड़ और और तो और, बाल दिवस पर जयपुर की सड़कों पर अपनी महत्ता को जनसमुद्र के रूप में बहाने-बिछाने को, बच्चों को अपनी ही भीड़ बनाकर पेश होना होता है।

क्या हम भूल गये कि भीड़ जनतन्त्र नहीं है? भीड़तन्त्र और लोकतन्त्र में बहुत बड़ा फ़ासला है। हमें भीड़तन्त्र नहीं लोकतन्त्र विकसित करना है। भीड़मूलक कार्यक्रमों का विद्यालयों से लोप होने का क्या अब भी कोई कारण आपको नजर नहीं आ रहा है? कुंभ, कुतुब और अहमदाबाद की मौतों के बावजूद भी? आंख खोलने को क्या इनसे भी बड़ा नरसंहार चाहिए आपको?

आप बच्चे नहीं हैं, बच्चों के पालक हैं। मां-बाप हैं, शिक्षक हैं। जिम्मेवार अधिकारी हैं। शायद समझदार राजनेता भी हैं। आप जैसे समझदार और जिम्मेवार व्यक्ति से तो हमें यही उम्मीद होनी चाहिए कि आप ऐसा कोई कार्यक्रम हाथ में नहीं लेंगे जो भीड़वर्द्धक हो। कम-से-कम बच्चों को तो भीड़ से दूर रखेंगे ही। आम जनता को भी दूसरों के घर को तमाशे की तरह देखने जाना, सिखाने की बजाय अपने घर को सही करने पर ध्यान देने की सलाह देना, क्या ज्यादा उपयुक्त नहीं रहेगा? अप्पादोराई की अन्त्येष्टि में जाने वाले कितने ही यात्रियों की रेल की छत पर मृत्यु हो गई थी। वे चाहे भक्त रहे हों चाहे तमाशबीन, घर रहे होते तो कहां धान ज्यादा हो उगाते। परिवार वालों के सामने भी रहते। भक्ति का प्रदर्शन करने इतनी दूर जाना और मौत को निमन्त्रित करना कतई आवश्यक नहीं था।

हमें राजनीतिक मानदण्ड बदलने ही पड़ेंगे। भक्तों की भीड़ का लालच छोड़ना ही पड़ेगा। टूरिज्म का विकास करना है तो आगत अभ्यागियों का बाल भी बांका न हो, वे ससम्मान विचरण कर सकें, यह गारन्टी देनी होगी। गांव शहर में कौन भूखे हैं कौन दुखी है यह देखने की फुरसत नहीं, पड़ोसी की सूरत पहचानने का भी समय नहीं और कुतुब पर चढ़ाने ले जा रहे हैं बच्चों को, और कह रहे हैं देश दर्शन हो गया। कितना मिथ्याभिमान पैदा करते हैं हम अपने ही देशवासियों में।

दरअसल हमने सह-शैक्षिक प्रवृत्तियों के नाम पर बिना मतलब की अनेक जिम्मेवारियां वृथा ही ओढ़ रखी हैं। बाहर जाने पर भीड़ में कौन किसके बस

में रहता है ? अच्छा हो अब यदि हम बच्चों को स्काउटिंग के नाम पर, टूर्नामेंट के नाम पर या शैक्षिक यात्रा के नाम पर बाहर ले जाना बन्द करें। मानों कि तफरी-तमाशा या सैर-सपाटा विलासिता है। इसका शैक्षिक महत्व कोई है भी तो इसका जिम्मा शिक्षक का नहीं अभिभावक का है। कक्षाध्यापन मन लगाकर लें, ध्यान से स्वाध्याय करें और गम्भीरतापूर्वक बच्चों के चारित्रिक विकास में मदद कर लें तो बहुत है। आखिर हमारी भी तो कोई सीमाएं होंगी। या कि हम असीम क्षमता वाले, असीम शक्ति वाले हैं ? यदि परीक्षा परिणामों में रुचि है, स्तर के उन्नयन में रुचि है, वास्तविक ज्ञान-विज्ञान को प्राथमिकता देनी है और यदि चरित्रवान नागरिकों का निर्माण अपेक्षित है तो विद्यालय के भीतर और विद्यालय के आसपास ही काम की बहुत गुंजाइश है। मेरी राय में तो शिक्षकों को कुतुब दुर्घटना से शिक्षा लेनी चाहिए और छात्र-छात्राएं या छात्राध्यापक-छात्राध्यापिकाएं लेकर शैक्षिक यात्राओं पर जाना अब तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

संभव कर दिखाया स्थानीय कारीगरों के ज्ञान, कौशल और सहयोग सामर्थ्य से ही। अब यह पांव बाहर से मंगाने की आवश्यकता नहीं रही। पांव पहनकर तकलीफ पाने और उसे उतारकर रख देने की आवश्यकता नहीं रही। दुनिया के विशेषज्ञों ने तारीफ की। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने जयपुर में दक्षिण पूर्वी एशिया के लिए शोध व प्रशिक्षण केन्द्र बन जाने की भी क्षमता स्वीकार की।

डॉ० सेठी की सूझबूझ, निष्ठा और देश-प्रेम देश के सभी वैज्ञानिकों, चिकित्सकों, कृषि विशेषज्ञों और शिक्षकों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण है। मैं उन्हें शिक्षकों का शिक्षक कहना चाहूंगा और इस कारण उन्हें अपना हार्दिक सलाम भेजना चाहूंगा।

आयातित तकनीकों का फैशन

डॉ० सेठी को शिक्षकों का शिक्षक कहकर सलाम भेजने की इच्छा होने का एक कारण यह भी है कि हमारे शिक्षक और शिक्षकों के प्रशिक्षक व्याख्याता या प्राध्यापक पश्चिम से जो शिक्षण तकनीकें आयात करते हैं, उन पर स्थानीय आवश्यकताओं की दृष्टि से कम सोचते हैं। प्रोग्रेम्ड लर्निंग, टीम टीचिंग या माइक्रोटीचिंग— जो भी तकनीकें—वे बाहर से लेते हैं उनकी हमारे स्थानीय उपयोग की दृष्टि से शायद कभी जांच नहीं करते। "प्रोग्रेम्ड लर्निंग" में या तो मशीन चाहिए या कागज के विपुल भण्डार चाहिए। हमारे देश के साधनों से उसका कोई मेल नहीं। एक-शिक्षकीय (वन-मैन) शालाओं की जहां बहुतायत है वहां "टीम टीचिंग" की क्या संगत बैठेगी? "माइक्रोटीचिंग" पर आजकल शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों में जो परिश्रम किया कराया जाता है उनका क्या हमारी भीड़ भरी कक्षाओं और गावों के विद्यालयों की परिस्थितियों से कोई तालमेल बैठ सकता है? लेकिन चूंकि नवाचार के नाम पर हमें कुछ करना है, और प्रशिक्षण विद्यालयों-महाविद्यालयों की श्रेष्ठता कायम करनी है, इसलिए साधारण शिक्षक को प्रभावपूर्ण बनाने का काम एक ओर छोड़कर हम "माइक्रोटीचिंग" का फैशन चला देते हैं। गाव-शहर को लाभ पहुंचाने वाली कोई तकनीक ईजाद करने की बजाय हम आंख मूंदकर पश्चिम से आयातित तकनीकों पर समय और श्रम लगाने में ही हमारा गौरव अनुभव करते हैं। इसलिए मैंने कहा कि डॉ० सेठी हम शिक्षकों के भी शिक्षक हैं। वे सिखाते हैं कि यदि हम पाश्चात्य तकनीकें अपनाने ... हमारी अपनी जरूरतों पर ध्यान दें तो देशवासियों का

हमारी योजनाएं अधिसंख्य को लाभ कैसे दे सकेंगी ? विद्यालयों की वास्तविकता सामाजिक वास्तविकता से इतनी भिन्न बनाना कतई लाभकारी नहीं है।

मिथ्या शैली की शिक्षा

शिक्षक विधियां हों, चाहे फर्नीचर, या शिक्षा का कोई अन्य क्षेत्र हो, राष्ट्रीय साधनों का सही उपयोग करने के लिए और देश के नागरिकों की सेवा करने के लिए यह तो सोचना ही चाहिए कि आवश्यक क्या है, अपव्यय क्या है और (अधिसंख्य) गरीब ग्रामवासियों की आवश्यकता के अनुरूप क्या है। इसी संदर्भ में यह जोर देकर, दुहरा कर कहने की जरूरत है कि विद्यालयों में फर्नीचर का प्रबन्ध सरासर पेड़ों की बलि है। पुस्तकों, पत्रिकाओं व प्रयोगशालाओं के पैसे की तो कुर्बानी है ही।

पेड़ की बलि का तर्क, हो सकता है, हम में से कुछ को अनिवार्य भी लगे। पर, जरा-सा गौर करें। यह सवाल जरूरत और प्राथमिकता का भी है। यह ठीक है कि फर्नीचर की व्यवस्था एक स्थाई व्यवस्था है। लेकिन देश विकास की आरंभिक प्रक्रिया में है। जनसंख्या विकासशील है, शिक्षा भी विकासमान है। छात्र बढ़ते हैं, विद्यालय बढ़ते हैं, कक्षाएं बढ़ती हैं। आपकी जरूरतें, जो पहले ही अपार हैं, बढ़ती हैं। इन्हें देखिए। पेड़ की सांस न सुनायी देती हो तो इन जरूरतों को ही देख लीजिए। इनके लिए ही यह काष्ठ-व्यय रोकिए। पर रोकिए। विश्वास मानिए, पीढ़ियों का लाभ जुड़ेगा। फर्नीचर भी फिर प्रतीक रह जाएगा। सिर्फ एक उपकरण। पूरी प्रवृत्ति बदलने के लाभ तो अपार हैं। यह पेड़ के ही अस्तित्व की बात नहीं है, पूरी सच्ची सभ्यता के अस्तित्व की बात है।

आपको याद हो तो कुछ रियासती राज्यों में किसी ज़माने में छात्रों को पन्द्रह मीटर लंबा मलमल का केसरिया साफा स्कूल यूनीफार्म के रूप में पहनना पड़ता था। जो बच्चे स्काउटिंग में भाग लेते थे उन्हें एक और साफा (मलमल का ही पन्द्रह मीटर का) हरे रंग का खरीदना-पहनना पड़ता था, और उसे मंगलवार तथा शुक्रवार को पहनकर स्कूल आना अनिवार्य था। कल्पना करें, नन्हें बच्चों के सिर के [illegible] इन साफों में कैसे बंधे हुए रहते थे। प्रार्थना के बाद साफों की कुश्तियां बन जाती थीं। शाम तक [illegible] तो साफा बगल में होता था, या कंधे में माला की तरह लटकता होता था, या फिर बस्ते में ठूंसा होता था। कितना बड़ा जुल्म होता था बच्चों पर, और इसके [illegible] [illegible]

[illegible]

प्राथमिक विद्यालय और 2000 माध्यमिक विद्यालय है। राज्य का कितना मीटर कपड़ा बचा केसरिया साफा न बाधने से ? केसरिया साफा यदि 22000 जमा 5000 जमा 2000 याने कुल 29000 विद्यालयो को हम आज भी यूनीफॉर्म मे बंधवा रहे होते तो 29000 गुणा 15 गुणा 200 (औसत छात्र संख्या) याने 87000000 (आठ करोड़ सत्तर लाख) मीटर कपडा व्यर्थ खर्च कर रहे होते। रुपयो मे मूल्य अलग। यह सब फिजूलखर्ची आप रोकने मे समर्थ हो गये तो फर्नीचर की फिजूलखर्ची रोकने मे क्या तकलीफ है ? और इसकी फिजूलखर्ची को ढूढ़ने की कोशिश करने मे क्या तकलीफ है ?

पालथी मारकर बैठिए

और, पालथी मारकर शिक्षा प्राप्त करने मे क्या आपत्ति लगती है ? जयपुर मे पाच बत्ती पर मोहन या भैरू पान वाले को देखा होगा। वे कैसी कुर्सी पर बैठते हैं ? पंसारी, किरानी, बजाज, मणियार और फल-सब्जी तथा मिठाई-नमकीन वाले, या मोची, दर्जी, सुथार और सुनार कौन-सा फर्नीचर काम मे लेते हैं, यह भी पहले हम देख लें, फिर तय करें कि इनके बेटे-बेटियो को किस सभ्यता, किस रहन-सहन और कैसी जीवन-शैली की शिक्षा देना आवश्यक है। अनावश्यक उपकरण देकर भविष्य की मिथ्या धारणाए उत्पन्न करने मे देश का कोई हित नही है। डॉ० सेठी की तरह देश के यथार्थ के अनुरूप ही हम उपाय करें तो डिबिया-सी गुमटी या खोखे मे 16 घटे पाव समेटे बैठे रहने वाले नागरिक का बालक फर्नीचर की विलासिता को समझ जायेगा, और इतरायेगा नही। और देश का धन और श्रम भी गलत जगह से हटकर सही जगह पर लग जाएगा।

गुरुजी, मुझे यह काम क्यों करना पड़ता है ?

पिछले वर्ष परीक्षा के दिन जब पास आये तब मैंने बच्चों की पढ़ाई देखनी शुरू की। जिस बच्चे को अर्द्धवार्षिक परीक्षा मे दोनो प्रश्नपत्रों मे शून्य अंक मिले थे वह आज भी वही था। अध्यापकों को कोसने से कोई नतीजा निकलने वाला नही था। सुबह शाम जब भी समय मिलता मैं स्वयं उसकी गणित की पुस्तक लेकर बैठ जाता। जो सवाल हल नही कर पाता वे पडोसी से समझने जाता। जब समझ में आते तब बच्चे को समझाता। बच्चा उन्हें समझकर प्रश्नमाला के दूसरे सवालों को हल करने की कोशिश करता। अटक जाता तो मैं मदद करता। मुझे भी पल्ले नही पड़ता तो फिर पड़ोसी के पास भागता। पडोसी से समझकर फिर लौटता और बच्चे को समझाता। कुछ सवाल पडोसी की शक्ति-सीमा से बाहर थे। वे न मुझे आए न बच्चे को आये। धंधे-व्यापार के बाद समय भी आखिर कितना बचता है। जो नहीं आये हम दोनो को, वे प्रश्नपत्र मे तो आ ही गए। लेकिन बच्चा उन्हें कैसे करता। नही किये। लेकिन कुछ तो किए ही थे सो उनके सहारे वह शून्य से इतना ऊपर जरूर उठ गया कि द्वितीय श्रेणी से ऊपर तक अंक प्राप्त हो ही गये।

अब उन अध्यापक जी से मेरा सवाल है कि बच्चे को अर्द्धवार्षिक मे शून्य क्यों मिला ? क्या बच्चे में कोई खोट थी ? खोट थी तो वह मेरे प्रयत्नो से उत्तीर्ण कैसे हो गया ? खोट होती तो वह न अध्यापक से सीखता और न मुझसे सीखता। लेकिन मैंने जो सवाल ठीक से सीखा वह उसे भी सीखते देर नही लगी। मैंने उसके साथ सीखने का संकल्प नही किया होता तो वार्षिक में पुनः शून्य प्राप्त करता। मैंने सीखा और उसकी मदद की तो वह पार उतर गया। अध्यापक जी को तो नये सिरे से कुछ नही सीखना था। जो सवाल मेरे पडोसी को नही समझ आये वे भी अध्यापक जी के लिए कठिन नही थे। थोड़ा ध्यान रखने और कौन बच्चा कहां अटका है यह देखते रहते तो न तो बच्चे को अर्द्धवार्षिक परीक्षा मे शून्य मिलता ... संकट मोल लेना पड़ता। क्या वे कभी

गुरुजी, मुझे यह काम क्यों करना पड़ता है ?

यह काम क्यों करना पड़ा, क्यों करना पड़ता है ?

बच्ची स्कूल से आई तो कुछ कठिन शब्दों की सूची लेकर आई । अ
पिका ने यह ध्यान नहीं दिया कि कई शब्दों की वर्तनी अशुद्ध थी । बच्ची ने
वाक्य लिखाओ । लिखा दिये । एक शब्द था 'लक्षण' । मैंने वाक्य लिखा दि
"आज बारिश के लक्षण हैं" । वास्तव में बाहर आसमान में बादल थे ।
शब्द था 'न्यायासन' । क्या वाक्य बनाता ? बच्ची को स्कूल की देर हो रही
मुझे वाक्य नहीं सूझ रहा था । लिखा दिया—"न्यायासन पर बैठने वा
न्याय करना चाहिए ।" न मुझे पहला वाक्य पूरा लगा था और न दूसरा ।
क्या करता, बच्ची जल्दी में थी और मैं झुंझला रहा था । फिर शब्द आ
फरियाद' । याद आया, फरियाद तो राज दरबार में होती थी । जहांगीर के
फरियाद करते थे । आज भी हमको क्या फरियाद करनी पड़ेगी ? करें तो
करें ? कौन सुना करता है फरियाद ? इस शब्द के अनुरूप वातावरण के
दिया जाए ? नहीं नजर आया कोई अन्य वाक्य, तो लिखा दिया—"हम
फरियाद करते हैं ।" पता नहीं एफ. आई. आर. को फरियाद करना उचित
या नहीं । लेकिन मुझे तो बच्ची को अध्यापिका के रोष से बचाना था ।
मे जो ध्यान आया वही लिखा दिया । कुछ और शब्द थे लेकिन दिमाग प
जोर देने पर भी समझ नहीं आया कि मूल शब्द क्या रहे होंगे । हाथ क
छोड़कर उसे यह लिखा रहा था और उधर उसके स्कूल जाने का समय
रहा था इसलिए हार कर कुछ शब्द छोड़ देने पड़े । वह घर से निकल
तब मैंने देखा कि उसके चेहरे पर काम पूरा न होने का असंतोष और
झिड़की खाने के भय की कुछ लकीरें जरूर मौजूद थी ।

क्या उसकी अध्यापिका जी हमारे इस संकट को टाल नहीं सक
फिर स्कूलें आखिर किसलिए हैं ? जो काम उनको करना है वह काम वे
से क्यों करवाती हैं ? लक्षण, न्यायासन और फरियाद शब्दों का वाक्य प्रयो
मौखिक क्यों नहीं करा दिया ? बीस-बाईस शब्द एक ही दिन में बच्चा क
सीख जायेगा और उनके वाक्य—प्रयोग भी कर लेगा, अपेक्षा क्यों की
क्यों कहा उन्होंने बच्चों से कि इन सबका वाक्य प्रयोग कापी में लिखा हुआ
क्या नये शब्द बिना यथेष्ट परिचय, अवबोध और अभ्यास के बच्चों
आयेंगे ? क्या बिना संदर्भ के ही नया शब्द बच्चा सीख लेता है ? आपने शब्द
और 'बराबर' का निशान लगवाकर अर्थ लिखा दिये । क्या इसी को भाष
कहते हैं ? माना कि आपका भाषा शिक्षण यही है, तो कम से कम वाक्य
बच्चों से तब कराइये जब आपके दिये अर्थों को समझ चुका हो और आप
पुष्टी हो कि आपकी कक्षा के बच्चे-बच्चियाँ उन अर्थों को वास्तव में
हैं और आप द्वारा कराए मौखिक अभ्यास से उन्हें उन शब्दों का का

करना भी आ गया है इस नन्ही-सी उम्र में (11 वर्ष) मौखिक अभ्यास के बिना, कक्षा कार्य के बिना, आप सीधे निर्दिष्ट और गृह कार्य तक एक छलांग में कैसे पहुंच गयी ? आपका काम मुझे क्यों करना पड़ता है ?

यह नादानी नहीं है । व्यावसायिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति हमारे विद्यालयों के 'गुरुजी' की और 'बहिनजी' की एक गम्भीर त्रुटि है । इस पर उनका ध्यान नहीं गया है तो जाना चाहिए। उन्हें यह देखना चाहिए कि हिंदी, गणित या विज्ञान आदि के जो प्रश्न कक्षा में हल नहीं कराए हैं वे घर पर हल करने को देते हैं तो बच्चा व्यर्थ परेशानी में पड़ेगा । घर पर मां-बाप को परेशान करेगा और अधूरे काम के कारण वापस कक्षा में आना भी उसके लिए कष्टकारक हो जायेगा । बच्चे का तो हौंसला बढ़े तभी वह सीखने के काम को आनन्द का विषय मान सकता है ।

जिन बच्चों के मां-बाप घर पर उन्हें प्रश्न हल करने में मदद नहीं कर सकते उनका कृपया प्रतिशत ज्ञात करें । वे जरूर बहुसंख्यक हैं । तो बहुसंख्यक समाज के बच्चे-बच्चियों को यदि उनके मां-बाप मदद नहीं करते हैं तो आप शून्य अंक देंगे । क्या यही शिक्षा का न्याय है ? क्या यही शिक्षक की समाज सेवा है ? क्या इन्हीं गुणों के कारण वह राष्ट्र-निर्माता कहलाता है ? यदि नहीं, तो विचार कीजिए कि मां-बाप के बीस-पच्चीस दिनों की मेहनत से यदि बच्चा अच्छे अंक ला सकता है तो 'गुरुजी' या 'बहिनजी' की साल भर की मेहनत क्या कोई रंग नहीं लायेगी ? नहीं, तो अभिभावक होने के नाते मैं तो यही पूछूंगा, "गुरुजी (बहिन जी) मुझे यह काम क्यों करना पड़ता है" ?

कल के समाज का आधार देखिए

शेक्सपियर ने अमर नाटक लिखे हैं। उसके नाटक विश्व प्रसिद्ध हैं।
उसके नाटकों मे से दुखात नाटक विशेष प्रसिद्ध है, सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। त्रासदियों
का वह शहंशाह है। हम यह नहीं कह सकते कि उसे अपने इन दुखात नाटको को
या त्रासदियो को लिखने मे स्वयं कोई विशेष दु ख या त्रास नही उठाना पडा था,
सिवाय उसके जो उसने कल्पना से बुना था और इसलिए समवत जिस पर उसने
कल्पना मे ही नियंत्रण भी कर लिया था। सार्त्र के शब्दो मे एक नाटककार की
त्रासदी एक "स्वनियन्त्रित सपना" है, एक ऐसा सपना जिसको वह नियन्त्रित तो
करता है लेकिन जिन परिस्थितियो के प्रभाव से वह उनको नियन्त्रित करता है, उन
परिस्थितियो पर उसका कोई नियत्रण नही रहता है।

विद्यालय मे करुणा, सहानुभुति और मानवीय सवेदनशीलता के कई सपने
हमारे शिक्षक बुनते है। एक सीमा तक वे उसे नियन्त्रित भी करते हैं। लेकिन
जिनकी मदद से वे उनको नियन्त्रित करते हैं उन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं
रहता। विकास की लडाई यही लडाई है कि जिनकी मदद से हम हमारे सपने
बुनते हैं, सपनो को नियन्त्रित करते हैं, वे भी हमको सुनें, थोडा उन पर भी हमारा
नियन्त्रण हो। परिस्थिति तो बहरी होती है। किंतु समाज बहरा नही हो सकता,
शासन बहरा नहीं हो सकता। जो सुन सके वह जरूर सुने, सुनने की उत्सुकता
रखे।

हमारे शिक्षक, प्रधानाध्यापक-प्रधानाचार्य व शिक्षाधिकारी भी विद्यालय
में प्रवेश से लेकर परीक्षा-परिणाम तक ऐसी अनेक त्रासदियां रचते रहते हैं और
घटना को विवेक, सच्चाई और सहज न्याय की सीमाओ मे पाते हुए भी उन
त्रासदियों को रोकने में अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाते हैं।

कम से कम शिक्षक-दिवस के अवसर पर तो हमे शिक्षक और शिक्षा के
इन दुर्गिनयों की कठिनाइयो पर विचार करना ही चाहिए।

को भी इन पर विचार करेंगे वे देखेंगे कि इस प्रकार की कठिनाइयों

का एक बड़ा कारण यह भी है कि हम आपसी होड़ को, दौड़ को, प्रोत्साहन देना चाहते हैं। आगे भागने वाले को महत्वपूर्ण मानते हैं। उस पर नज़र रखना चाहते हैं। जो पिछड़ जाता है उसका पिछड़ना हम कुदरती मान लेते हैं।

अच्छी शिक्षा में पिछड़ापन घटेगा कि बढ़ेगा ?

प्रतियोगिता किसी भी 'अच्छी शिक्षा' या 'बढ़िया शिक्षा' में सम्मानजनक स्थान नहीं प्राप्त किया करती, लेकिन हम हैं कि खुद ही इसे बार-बार गले से लगा लेते हैं। कारण क्या है इसका ?

हमने जरूर पढ़ा होगा कि प्रतियोगिता एक बहुत ही सूक्ष्म परिमाण में प्रगति मे एक स्वस्थ प्रेरणा के रूप में सहायक होती है, अधिकांशतः यह अस्वस्थ, अलाभकारी और समाज विरोधी हिंसक वृत्तियों को जन्म देने वाली है। शिक्षा और समाज दोनो की दृष्टि से इससे परहेज करना ही उत्तम है। हम समझते हैं कि आगे की पंक्ति वाले को प्रोत्साहन देकर हम अन्य लोगो को आगे आने में समर्थ बनने की प्रेरणा दे रहे हैं अर्थात् हमारी इस दृष्टि से उसे लाभ हो रहा है, लेकिन तथ्य शायद इसके विपरीत है। उसे लाभ नहीं हो रहा है, हानि हो रही है। तीरथ-व्रत करने वाले का चेहरा कभी आपने देखा है ? खेल के मैदान मे जीतने वाले का चेहरा कभी आपने देखा है ? खेल के मैदान में विजेता खिलाड़ी के चेहरे पर की असामाजिकता समझने मे अभी हमको दो सौ साल और लग सकते हैं किन्तु तीरथ-व्रत करने वाले का और शिक्षा में ऊंचे अकों से उत्तीर्ण होने वाले का चेहरा हम आज भी समझ सकते हैं और उसका जो समाज पर प्रभाव पड़ता है वह आज भी देख सकते हैं। तीरथ-व्रत करने वाला जब तीरथ-व्रत कर लेता है तब उसे अपने इर्द-गिर्द कई चेहरे मिलते हैं जिन्होंने तीरथ-व्रत नही किया। नहीं करने वाला पीछे रह गया, पिछड़ गया। तीरथ-व्रत करने वालो के कारण समाज मे पिछड़े लोगों की संख्या बढ़ गई। ऐसे ही लोग अशिक्षित हो, शिक्षा प्राप्त नही करें, तो सभी समान हैं, लेकिन शिक्षा प्राप्त की तो हम असमान हो गए। एक पढ़ा तो दूसरा अनपढ़ कहलाया। कोई पढ़ता ही नहीं तो कोई अनपढ़ क्यों रहता, ढोर-गंवार क्यो कहलाता ? इसलिए जो पढ़ता है या पढ़ाता है, शिक्षा प्राप्त करता है या शिक्षण कार्य करता है और शिक्षा का प्रबन्ध करता है या इसमें सहयोग करता है, उसको यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह अशिक्षा को भी रेखांकित करता है और समाज में अशिक्षितों का एक समानांतर विरोधी खेमा तैयार करता है। अर्थात् शिक्षा के जरिए जब समाज को एक लाभ मिलता है (शिक्षा प्राप्ति का) तब उसे दो नुकसान भी (एक तो शिक्षा के अभाव की अनुभूति का और दूसरा उस अभाव से ... और मनोविकारों की प्रतिक्रिया का) अविलम्ब प्राप्त हो जाया करते

* इस समाज-शास्त्रीय पहलू पर

हमारा ध्यान प्रायः कम जाता है। शायद जाता ही नहीं है। पर यह एक हकीकत है। आप गए तो 'अनगया' भी कोई रहा, आप पढ़े तो 'अनपढ़' भी कोई रहा। आप जाएँगे ही नहीं, पढ़ेंगे ही नहीं, तो कोई 'अनगया' या 'अनपढ़' रहेगा ही कैसे ? इसलिए पढ़ने वालों, पढ़ाने वालों और पढ़ाई का प्रबन्ध करने वालों की दोहरी जिम्मेवारी हो जाती है यह देखने की कि जो वंचित रहे उन्हें शीघ्र अवसर मिले और जिन्हें अवसर मिला उनको वास्तव में लाभ मिले।

आर्थिक असन्तुलन की नींव अभी से ?

यह विश्लेषण ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है क्योंकि कहने को तो हम कह देते है कि हम राष्ट्र-निर्माता हैं, शिक्षा द्वारा देश का विकास कर रहे हैं और शिक्षा राष्ट्रीय प्रगति का प्रमुख साधन है आदि इत्यादि, किन्तु हकीकत में हम यह नहीं देखते कि राष्ट्र के धन, ध्यान और शक्ति का अधिकांश भाग उन्हें पहुँच जाता है जो पहले से ही तृप्त हैं और इस कारण पुनः-पुनः तृप्त किए जाने के कारण समाज से कटते चले जाते हैं और जो वंचित हैं वे अधिकाधिक वंचित होते-होते पिछड़ते चले जाते हैं। कालान्तर में शिक्षा भी आर्थिक उन्नति का एक कारण बनती है इस कारण यदि हम शिक्षण कार्य में असमानता की अनदेखा करेंगे तो शैक्षिक दृष्टि से हीन भाव और कुण्ठाओं की गांठों का निर्माण करने के साथ भावी समाज के आर्थिक असंतुलन की नींव भी अभी से रख देंगे। राष्ट्र ने शिक्षक पर धन इसलिए नहीं लगाया है कि वह सम्पूर्ण ध्यान और शक्ति तथाकथित प्रतिभावान छात्रों पर व्यय कर दे और राष्ट्र के भावी जीवन को अंधकारमय बना दे। शिक्षक वही काम करेगा जिससे राष्ट्र का भावी जीवन उज्ज्वल होगा, समाज के बहुसंख्यक भाग को लाभ होगा और जो पिछड़ा हुआ है वह आगे आएगा।

क्यों नहीं शिक्षा में भी पिछड़े को पहले लिया जाता ? लेकिन यदि हम पहली पंक्ति से पीछे झांकेंगे ही नहीं तो पिछड़े पर ध्यान कैसे देंगे ? पिछड़े पर ध्यान देने के लिए शैक्षिक योग्यता मात्र देखने से काम नहीं चलेगा। सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि भी देखनी होगी। लेकिन हम देखते नहीं। हम तटस्थ रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। निष्प्राण तटस्थता, जो अन्ततः क्रूरता को जन्म देती है। इस तटस्थता से तटस्थ को भी हानि है, देश को भी और भावी समाज को भी।

सच्ची शिक्षा के पक्षधर हैं कोई ?

जो लोग सच्ची शिक्षा और अच्छी शिक्षा या बढ़िया शिक्षा के पक्षधर हैं उन्हें शिक्षा के लिए साहस और प्रयोग की स्वतन्त्रता का प्रबन्ध करना चाहिए। प्रयोग की स्वतन्त्रता दूर रही, उसे जो प्रश्नपत्र बनाने व परीक्षा लेने की स्वतन्त्रता अंग्रेजों के समय में थी वही स्वतन्त्रता स्वतन्त्र भारत के कर्णधारों ने अभी पाब-

इस काम पहले छीन ली थी। उम्मीद यह थी कि स्वतन्त्र भारत में शिक्षक को स्वतन्त्रता में इजाफा होगा, शिक्षक पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के बनाने में स्वतन्त्र होगा और धीरे-धीरे अपने प्रशिक्षण और अपने विद्यालय के प्रबन्ध के नए मार्ग निर्माण करने में भी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा। किन्तु हुआ यह कि प्रशिक्षण और विद्यालय प्रबन्ध के नए मार्गों के अन्वेषण का अवसर तो दूर, प्रश्नपत्र बनाने और परीक्षा लेने तथा उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण करने की जो स्वतन्त्रता उसे 15 अगस्त 1947 से भी पहले से थी वही संकीर्ण-बुद्धि प्रशासकों और दुर्बुद्धि 'शिक्षाविदों' के कारण उससे छीन ली गई। समान परीक्षा योजना के कई अच्छे दूसरे विकल्प भी हो सकते हैं, लेकिन सोचे कौन? शिक्षक पर विश्वास कौन करे? सच्ची शिक्षा का सपना तो शिक्षक तभी देखेगा जब उसे सपना देखने की स्वतन्त्रता होगी। अभी तो वह शासक के हाथ की कठपुतली है (पूछिए हनुमन्त प्रभाकर जैसे शिक्षामन्त्रियों को) और प्रशासक की नजरों में एक भ्रष्ट, बेईमान, आलसी, कामचोर, अयोग्य और अज्ञानी नौकर है जो कभी ठीक से पढ़ता-पढ़ाता नहीं, जो कभी समय पर विद्यालय जाता नहीं या ज्यादा समय विद्यालय से गायब रहता है, जो गबन करता है और कभी सोलह या कभी सतरहवें नियम की चार्ज शीट पाता है। प्रशासक की नजरों में शिक्षक हिंसक है क्योंकि वह शिक्षाधिकारियों के साथ सभ्यतापूर्वक व्यवहार नहीं करता, गाली देता है, घेराव करता है, अर्थी निकालता है और कभी-कभी हमला भी कर बैठता है। शासक और प्रशासक दोनों ही उसकी उठा-पटक करते रहते हैं। चाहते हैं कि उसमें संघर्ष की शक्ति ही शेष नहीं रहे। दब्बू और कायर ही बना रहे। फल यह होता है कि निकम्मा और निखट्टू या चालबाज और धूर्त 'शिक्षक' उनकी नजरों में श्रेष्ठ बन जाता है। जो साहस और प्रयोग की स्वतन्त्रता को शिक्षा के विकास का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं उन्हें मिथ्या विश्वासों के इस आवरण को चीर कर बाहर आना होगा।

साहस और प्रयोग का वातावरण बनायेंगे?

साहस और प्रयोग का आप अवसर देंगे तो शिक्षक से आप परीक्षा परिणाम पूछने की बजाय यह पूछेंगे कि अपने विषय से सम्बन्धित ज्ञान की वृद्धि के लिए क्या पढ़ते हैं, कक्षा में कल क्या पढ़ाएंगे, किस विद्यार्थी के विषय में उन्होंने गहराई से क्या जाना और क्यों जाना, बच्चे को अपराधी की स्थिति में लाना वे अपराध मानते हैं या नहीं, मानते हैं और भूल से कभी बच्चे को अपराधी की स्थिति में ले आते हैं तो उसका प्रायश्चित्त क्या करते हैं? परीक्षा तो पूरी शिक्षा-प्रक्रिया का औपचारिक अंत होती है इसलिए सर्वस्व उसी को मान लेने का रिवाज पड़ गया है। परीक्षा शिक्षा के पर्याय में रह ही गई है। अब भी हम शिक्षक के कर्तव्य को [illegible]

रीक्षा परिणाम पर जाती है। शिक्षण प्रक्रिया का परिणाम तो कर्त्तव्य की झलक रूर दे सकता है—'झलक' ही दे सकता है, यह न भूलें—लेकिन शिक्षण-प्रक्रिया न उद्देश्यों को लेकर सम्पन्न होती है वे उद्देश्य इतने वृहद् परिणाम वाले और मूर्त्त हैं कि उनका मूल्यांकन वार्षिक परीक्षा में या बोर्ड की परीक्षा में कदापि भव नहीं है। 'आतंरिक मूल्यांकन' प्रणाली द्वारा जरूर इस दिशा में कुछ प्रयत्न श्या था किन्तु वह दो कारणों से व्यर्थ गया—एक तो उसका वार्षिक परीक्षा की लना में कोई खास महत्त्व नहीं रखा गया था, दूसरे उसका स्वरूप सर्वथा पूर्व-र्धारित व कठोर था जिससे उसका संचालन एक खानापूर्ति मात्र बनकर रह या था। साहस का संदेश उसमें नहीं था। शिक्षक लीक से नहीं हट सकता था। क्षक 'मनमानी' नहीं कर सकता था। वह प्रशासक की 'मनमानी' थी। बोर्ड र विभाग की 'मनमानी' थी। शिक्षक की 'मनमानी' का मान रखना अभी मारे बोर्ड और विभाग की संहिता में नहीं आया है। फिर शिक्षक साहस कैसे रे? प्रयोग कैसे करे? विद्यार्थी के व्यक्तित्व के स्वरूप और विकास पर राय ने का अभ्यास कैसे करे? मन से कैसे करे? दूसरों के मन की करनी है तो मने भाव से ही करेगा। बच्चे का अध्ययन, बच्चे के विकास का मूल्यांकन और मूल्यांकन की घोषणा या चर्चा, और उसका बाजार में उपयोग ये सब बहुत मल बिंदु हैं। बोर्ड और विभाग इन्हें थोक के भाव निपटा देते हैं। थोक के भाव शिक्षक का मूल्यांकन भी कर लेते हैं। थोक के भाव ही वे विद्यार्थी पर शिक्षक की य प्राप्त कर लेने का निर्णय लेते हैं। न तो वे खुद कोई संकल्पना समझना चाहते और न वे शिक्षक से कोई अपेक्षा रखते हैं कि वह किसी नई संकल्पना को ठीक समझे और शिक्षा में उसको व्यवहार में लाने का प्रयत्न करे। नयी संकल्पनाओं अध्ययन करते हुए शिक्षक को स्वयं अपनी संकल्पना निर्मित कर उसे लागू ने की स्वतन्त्रता देना तो और भी दूर की बात है।

नसी नयी संकल्पानएं और नवाचार ?

नयी संकल्पनाएं हों और नये विचार हों तो नये प्रयोग भी होंगे और नई लब्धियों की खुशी भी होगी। लेकिन नई संकल्पनाएं क्या लें? कौन से न्ये प करें? प्रायोजनाएं नयी कौन सी लें? नवाचार किसे कहें, नवोन्मेष कैसे ? नवीन उद्भावनाओं के लिए मार्ग कौन-सा अपनाए? आदि कई प्रश्न हैं श्न पैदा होना भी सराहना व प्रसन्नता का विषय हो सकता है। प्रश्न होंगे तो र भी मिलेंगे। स्वतः मिलेंगे। दूसरों के दिए उत्तर काम नहीं आएंगे? वे तो वही पूर्व-निश्चित, पूर्व-निर्धारित बिन्दु हो जाएंगे। पूर्व-निश्चित, पूर्व-निर्धारित दु सुझाव के रूप में या सूचना के रूप में रखे जाएं तो शिक्षक को सदैव लाभ किन्तु जब वे ही पूर्व-निश्चित, पूर्व-निर्धारित बिन्दु आदेश-निर्देश का रूप लेकर

आते हैं तो शिक्षक को अर्थात शिक्षा की समूची प्रक्रिया को निश्चेष्ट और संज्ञा-शून्य बना जाते हैं। फिर जो होता है वह जड़ है, चेतन नहीं है। शिक्षा की प्रक्रिया को चेतन बनाने के लिए जरूरी है कि प्रस्तर-प्रतिमावत शिक्षक की पूजा करके राष्ट्र अपने कर्तव्य की इतिश्री न कर ले बल्कि शिक्षक को भविष्य के समाज की रचना की दृष्टि से दृष्टि सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न होने का अवसर दे। शिक्षक को दृष्टि सम्पन्न और शक्ति सम्पन्न होने का अवसर देने में समाज को ही लाभ है लेकिन सत्ता में आने के बाद समाज के प्रतिनिधियों को सत्ता सम्बन्धी समस्याएं और दबाव इतना कसकर बांध देते हैं कि वे आज से दस बरस या बीस बरस या तीस बरस आगे के समाज की जरूरतों की दृष्टि से शिक्षा पर सोच ही नहीं पाते। उन्हें केवल तत्काल फल की जरूरत ही नजर आती है। फल भी वे ऐसा मांगते हैं जो कि गोचर हो। शिक्षा की वास्तविक उपलब्धि सामान्य अर्थ में तो शायद कभी गोचर नहीं होगी।

हमारे शासक और प्रशासक भी यदि अपने अंतःकरण में झांककर देखें तो पाएंगे कि आदत न होने के कारण और भविष्य की पीढ़ी को प्रमुखता देकर शिक्षा की नीतियां तय न करने के कारण हम पूरे साल पदस्थापन, पदोन्नति और वेतन-भत्तों को ही हमारी शक्ति अर्पित करते रहते हैं। कभी भी हम शिक्षक से यह नहीं कहते कि हम तुम्हें तुम्हारे क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी बनाते हैं, तुम बोलो तुम कैसे भविष्य का सपना देखते हो, शिक्षा के किस स्वरूप की क्या कल्पना करते हो?

शिक्षक जब भविष्य के समाज की, भविष्य के बालक की, भविष्य के युवा व तरुण की, आज के अनुभव एवं अतीत के इतिहास के अध्ययन द्वारा नयी कल्पना करने का साहस करे और उसके अनुरूप अपनी शिक्षण शैली का निर्माण करना चाहे तो शासन प्रशासन को भी इतना साहस जरूर करना चाहिए कि वह शिक्षक के स्वतन्त्र निर्णय से समाज में फैलने वाली अव्यवस्था या अराजकता या आर्थिक हानि की आशंका से भयभीत न हो। शासन प्रशासन शिक्षक के प्रति जितने भी अनमनीय कठोर मापदंड निर्धारित करता है वे सब इसी भय से करता है कि वह ऐसा नहीं करेगा तो समाज को नुकसान होगा। शिक्षक कहता है स्वतन्त्रता नहीं है [illegible] करना है बंधन बड़ा है। शिक्षक कहता है [illegible] और [illegible] के अनुशासन का [illegible] वह भी आवश्यक है किन्तु स्वतन्त्र वातावरण [illegible] के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं बन पाती। [illegible] आदर्शवादी हो, [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] (शिक्षक की [illegible])

[illegible]

मे माहिर है। बाकी तो मशीन के कल-पुर्जे, 'जो हुकुम' कहकर 'बाइज्जत' सेवा निवृत्त हो जाने मे ही जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार कर लेते है। अधिक से अधिक हमको कोई शिक्षा विभाग मे स्वतन्त्र दीखता है तो शिक्षामन्त्री, जिसको न कभी शिक्षा पर सोचना है, न सोचा है, न सोचेगा। वह शिक्षक के भी साथ खडा हो जाए तब भी बहुत कुछ उपलब्धि सम्भव है। लेकिन स्वय शिक्षक को भी आखिर स्थानांतरणों की माया से मुक्ति मिले तब न। हर सत्ताधीश उसके सिर पर यह डेमोक्लीज की तलवार लटका देता है और हर दौड मे वह इसी से चालित रहकर शिक्षा और शिक्षण के सभी सृजनात्मक बिन्दु भूल जाता है। रूढ़िगत शिक्षण मे कोई भार पड़ता नही। आडे-बाके, टेढे-मेढे, पहले-पीछे कैसे भी, कब भी, कोई भी सवाल कराओ, विद्यार्थी तो क्रियाशील होंगे ही, अभ्यास होगा ही, और अच्छे अको से उत्तीर्ण भी होगे ही। वही रूढ़िगत शिक्षण पीढी दर पीढी चला आ रहा है। जब तक परिवर्तन का वातावरण हम नही बनाएगे तब तक यही चलता चलेगा।

शिक्षा जगत् में जब भी किसी को ताव आता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना जागती है, तब आदर्शों के अनुकरण की, चरित्र-निर्माण की, कु जियो के खिलाफ जेहाद छेड़ने की, समाज के प्रति दायित्व-बोध की, सत्य-अहिंसा स्वावलम्बन-स्नेह-सहयोग और सहिष्णुता जैसे उत्तमोत्तम गुणो की शिक्षा पर जोर देने की, और भारत की विराट परम्परा को हृदयगम करने की तकरीर दे दी जाती है। तकरीर देने वाला वाह-वाही लूटने के लिए तकरीर करता है, वास्तव मे शिक्षा के विकास से उसे कोई सरोकार नही हुआ करता है। क्योंकि वास्तव मे ऐसा होता तो हम परीक्षाओ पर इतना अवलम्बित क्यो हो जाते? शिक्षित जन में जिन गुणो की अपेक्षा की जाती है, उनकी परीक्षा तो नही होती कभी? उनका अभाव बताने वाले की कोई पूछताछ भी नही होती कभी! असल मे शिक्षा की हमारी सकल्पना को ही साफ करने की इच्छा हम नही रखते और शिक्षक को यह काम करने देने का साहस हम मे नही है। न हम स्वय साहसी है और न हम दूसरे को साहसी होने देना चाहते हैं। न खुद काम करते है और न हम दूसरों को काम करने देना चाहते है। शिक्षक का तो व्यवसाय ही शिक्षा है। उसे तो हम शिक्षा की सकल्पना साफ करते रहने का काम सौंप सकते है, निर्भीकता के साथ वह जो सकल्पना साफ करे उसका विवरण हम उससे सुन सकते है और उसे प्राथमिकता देते हुए शिक्षा प्रशासन का प्रत्येक निर्णय उसकी सकल्पना के अनुरूप ले सकते है। लेकिन किसी को स्वतन्त्र देखने का साहस हम मे कहां है? छोटी बहन या छोटे भाई को हमसे सवाद करने देने का नजरिया भी कभी हमने कहां स्वीकार किया है?

[illegible]

[illegible]

क्या हम शिक्षक को सचमुच सम्मान दे सकेंगे? क्या हम उनको शिक्षा की [illegible] बनाने का अवसर दे सकेंगे? क्या शिक्षा-प्रशासन पर शिक्षक द्वारा निरन्तर नियमन की कोई योजना बना सकेंगे जैसा शिक्षा प्रशासन के कार्य-कारी दल ने सुझाया था? राजस्थान राज्य ने राज्य की प्रगति के लिए निर्धारित बीस सूत्रों में 'बढ़िया शिक्षा' के सूत्र को दूसरे स्थान पर रखने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लेकर बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किया है और लगता है इससे कई विद्यालयों को भौतिक लाभ भी अवश्य होगा। पुस्तकों में वृद्धि होगी, फर्नीचर मिलेगा, भवन बनेंगे, छात्रावास बनेंगे, हो सकता है गांवों के शिक्षकों के लिए (छोटे-छोटे ही सही) आवासगृह भी बनें, लेकिन सच्ची शिक्षा की आशा तो तभी जगेगी जब शिक्षक का मात्र समारोहों में सांकेतिक सम्मान ही नहीं होगा, बल्कि वास्तविक जीवन में उन पर ध्यान दिया जाएगा, उनको सुना जाएगा और शिक्षा के सपनों के सृजन और क्रियान्वयन में उन्हें शीर्ष स्थान दिया जाएगा।

□□

अनुक्रमणिका

शिवरतन थानवी

जन्म—3 अगस्त, 1930, जोधपुर; पैतृक गाव-फलोदी (जोधपुर)।

शिक्षा—एम० ए० (अंग्रेजी), पी० जी० डिप० टी० ई० एफ० एल० (सेंट्रल इंस्टीट्यूट अव् इंग्लिश, हैदराबाद)।

विशेष रुचियाँ—साहित्य, शिक्षा-दर्शन, शैक्षिक पत्रकारिता, अंग्रेजी भाषा-विज्ञान, अंग्रेजी अध्यापन और लोक विकास जिसमें कला-संस्कृति के साथ अर्थनीति और राजनीति भी सम्मिलित।

प्रवृत्तियाँ—1949 से अध्यापन और 1951 से लेखन-सम्पादन/लेख, कहानी, कविता। शिविरा पत्रिका और नया शिक्षक/टीचर टुडे (राजस्थान शिक्षा विभाग की शैक्षिक पत्रिकाएँ) का 13 वर्ष सम्पादन कर अब पुन. लेखन की ओर प्रवृत्त।

प्रकाशन—'प्रेमचन्द के पात्र' (कोमल कोठारी और विजयदान देथा के साथ)। 'रेगमारी का रोजगार', 'हिमशिखराना गुलमोहर', 'धूप के पखेरू,' 'अस्तित्व की खोज', 'सुनी बेमी-नुवां देमी' 'कौमी एकता की तलाश' का सम्पादन। 'तोड़ना बाधाओं का' (कमला मकीन की 'ब्रेकिंग बैरियर्स'), महामुनि व्यास (क. मा. मुंशी के उपन्यास का गुजराती से) हिन्दी अनुवाद। पत्र-पत्रिकाओं में लेख, कहानी, कविता, साहित्यालोचना-समीक्षा।

सम्प्रति—उपनिदेशक, समाज शिक्षा राजस्थान, बीकानेर।

UNIVERSITY PRACTICAL PHYSICS

M. G. BHATAWDEKAR
O. P. NIGAM
S. S. CHAUDHRY
T. L. DASHORA

मनुज देपावत भरी जवानी में रेल दुर्घटना में नहीं
रना उनसे साहित्य और समाज को बड़ी आशाएँ थी।
त मे कवितात्मक सावधानी औरों से अधिक थी अतः
ो सरचना मे कौशल भी मिलता है। कवि कौशल
हार्य शब्द और अपरिवर्तनीय विन्यास मे झलकता
'दूसरे ध्रुव पर व्यवस्था विरोध की लपटें हैं जिनमें
अपने आपको प्रलयवाहिनी का वाहक कहता है और
ा, रोमान, अंधविश्वास और उनके लेपन के विरुद्ध
आक्रोश और उत्साह जगाता है। उसे आज
ाज मे, मनुष्यो के आकार में, राज्यलिप्सा के नशे मे
ते दानव दीखते हैं। मनुज देपावत इसी जनरक्त-
दानव-वर्ग के विरुद्ध कवितात्मक संघर्ष करते हुए
हैं।

नुज देपावत के कवि मे कोरी भावुकता नहीं है, उसमे
र्पति की पूरी समझ है। वह वर्ग शत्रु को पहचानता है
दय की पूरी उछाल से वह चोट करता है।

—डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

मनुज देपावत भरी जवानी में रेल दुर्घटना में नहीं रहे वरना उनसे साहित्य और समाज को बड़ी आशाएँ थीं। देपावत मे कवितात्मक सावधानी औरों से अधिक थी अत: उनकी संरचना मे कौशल भी मिलता है। कवि कौशल अपरिहार्य शब्द और अपरिवर्तनीय विन्यास मे झलकता है।'''दूसरे ध्रुव पर व्यवस्था विरोध की लपटें हैं जिनमें कवि अपने आपको प्रलयवाहिनी का वाहक कहता है और निराशा, रोमान, अंधविश्वास और उनके लेपन के विरुद्ध हममें आक्रोश और उत्साह जगाता है। उसे आज के समाज मे, मनुष्यो के आकार मे, राज्यलिप्सा के नशे मे विहँसते दानव दीखते हैं। मनुज देपावत इसी जनरक्त-पिपासु दानव-वर्ग के विरुद्ध कवितात्मक संघर्ष करते हुए खेत रहे।

मनुज देपावत के कवि मे कोरी भावुकता नही है, उसमे उन स्थिति की पूरी समझ है। वह वर्ग शत्रु को पहचानता है और हृदय की पूरी उछाल से बढ़ चोट करता है।

—डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय